धारावाहिक / तीसरी - अंतिम कड़ी

परमानंद श्रीवास्तव

अपसंस्कृति और साहित्य

'द हिन्दू' (25 फ़रवरी 2008) के संपादकीय में असहिष्णुता की संस्कृति (Culture of Intolerance) पर टिप्पणी करते हुए '**जोधा-अकबर**' फ़िल्म के विरुद्ध प्रदर्शन, तोड़फोड़ पर चिन्ता की गयी है। यह हिंसक प्रतिक्रिया अपसंस्कृति है, क्योंकि वह इतिहास को एक ख़ास नज़रिये से हमेशा अपने पक्ष में करने के लिए दबाव बनाती है। **इरफ़ान हबीब** तक कह रहे हैं कि जोधाबाई मुग़लकालीन इतिहास में कोई चरित्र नहीं है। इसके बावजूद इतिहास को कलात्मक उद्देश्य से विखंडित किया जा सकता है। फ़िल्म को प्रतिबंधित करने का कोई तर्क नहीं है। यह दीपा मेहता की फ़िल्मों के साथ हो चुका है। वे विदेश में पुरस्कृत हो रही हैं और वहीं से अपनी लड़ाई लड़ रही हैं। एक ओर **कुरोसावा** की '**ड्रीम्स**' जैसी विलक्षण अमूर्त फिल्म है। अँधेरा, चट्टानें, टीले, बंजर ज़मीन - इसके विरुद्ध हरियाली, लय, संगीत। फ़िल्म का कोई सुसंगत कथ्य नहीं है। साहित्य यहाँ कुछ भी 'कमिट' नहीं करता। पर यह साहित्य की स्वायत्तता है — यही साहित्यिक संस्कृति है। यहाँ **मार्क्वेज़** लिख सकते हैं, तो विवादास्पद बांग्ला लेखिका **तस्लीमा** भी लिख सकती हैं। भाषा सिंह (आउटलुक) से बातचीत में घुटन के स्वीकार के बाद भी तसलीमा को उम्मीद है कि वे कोलकाता - अपने घर - लौटेंगी और लिखेंगी। साहित्य अपसंस्कृति का प्रखर प्रतिवाद है। **ऋत्विक घटक** की फ़िल्म '**स्वर्ण रेखा**' नाउम्मीदी, हताशा का प्रतिवाद है। मन्देलश्ताम पर उनकी पत्नी नादेज़्दा की किताब का नाम ही है - 'होप अगेन्स्ट होप'। सब ख़त्म हो, तो भी कुछ शेष रहता है। कुरोसावा (ड्रीम्स) की फ़ैन्टेसी साम्राज्यवादी युद्धों का आतंक ब्यान करती है।

अपसंस्कृति के रूप अनेक हैं और स्रोत भी कई हैं। **अपसंस्कृति** में हिंसा, बर्बरता, नग्नता, अश्लीलता सब आते हैं। **बाज़ारवाद** मुख्य कारण है। फ़िल्में भौड़ेपन द्वअर्थी संवाद, नग्नता के सहारे बाज़ार बनाती हैं। नैतिक आवेग और मानवीय दृष्टि से ग़ायब है। सत्थू जब 'गर्म हवा' बना रहे थे, तो विभाजन की त्रासदी को संकेतों में बताया जा रहा था। प्रेम भी प्रदर्शन नहीं था, नैतिक साहस था। **विज्ञापन-संस्कृति** भी अपसंस्कृति का मुख्य हेतु है। युवा कथाकार **नीलाक्षी** ने 'शुद्धिपत्र' में 'सेक्स' भी दिखाया था, तो संकेतों में। जैसे विज्ञापन है - 'जो दाग़ को मिटाये, प्यार को नहीं।' 'दाग़' कहकर काम चला लिया गया है। साम्प्रदायिकता भी एक अर्थ में अश्लीलता में शुमार है। अपसंस्कृति को प्रश्नांकित करने के लिए कुछ बुनियादी सवालों पर

ग़ौर करना होगा। दंगों में अपसंस्कृति का उभार देखा जा सकता है। गुजरात की हिंसा वैस्तावता का उपहास थी। प्रायोजित हिंसा का अपना नेटवर्क था। वह अंधधार्मिकता अपसंस्कृति है, जिसमें प्रेमियों के जोड़े अंतर्जातीय विवाह के कारण मार दिये जाते हैं। जो क्षत्रिय गौरव 'जोधा-अकबर' का विरोध कर रहा है, वह अपसंस्कृति है। इस हिंसा की चालक शक्ति बड़ी पूँजी है। कभी-कभी अस्मिता के नाम पर अश्लील और क्रूर हिंसा प्रकट होती है - जैसे मुम्बई में मराठी अस्मिता के बहाने देश को बाँटने का खेल है। यह राजनीति के नाम पर अराजनीतिक कुत्सा है। अपसंस्कृति क्रूर आतंकवाद में भी प्रकट है। नग्नता मक़बूल फ़िदा हुसैन के चित्रों में नहीं है, देखने वालों की कुत्सित दृष्टि में है। इस तरह देखेंगे तो सृष्टि का रुपक चरम नग्न जान पड़ेगा। मन्टो और इस्मत चुग़ताई को पता था कि 'खोल दो' और 'लिहाफ़' का कुपाठ अर्थ का अनर्थ कर सकता है।

रामचंद्र गुहा मानते हैं कि उपभोगवाद में भी अपसंस्कृति का राज़ छिपा है। चमकती चीज़ों की लालच, ब्रांड का वैविध्य, मंहगी चीजों को ख़रीदने-दिखाने की लालच एक अर्थ में अपसंस्कृति है। पंकज विष्ट की एक कहानी में समृद्ध परिवार का लड़का अपने नौकर से अपने नये जूते का दाम पूछता है। नौकरी बड़ी रकम से इतना अनभिज्ञ कि उसे उसके अनुमान पर ठोकर मारी जाती है। अगली सुबह वह घर में होकर भी अदृश्य हो चला है। स्वदेशी की जगह विदेशी की ललक में महँगी में महँगी गाड़ियों कीमांग है। यह प्रदर्शन अपनी प्रकृति में ही हिंस्र और अश्लील है। फैशनलिटी चैनल से किए समृद्ध वर्ग की विलासिता, कामुकता प्रकट होती हैं। मंगलेश डबराल ठीक कहते हैं - हमारे समय का ईश्वर 'पैसा' है। अपसंस्कृति के दौर में समलैंगिकता पीछे छूट गयी है। अति समृद्ध परिवार की महिलाएँ उम्र भूलकर युवा रखैलों पर लुब्ध हैं। अभी 'कथादेश' (जनवरी 2008) में एक युवा कथाकार **संजय सिंह** की कहानी 'यूजेनियो मोंताले को जानती हैं' इसी अपसंस्कृति का बयान है। पर्जन्य अनुभा के बीच जो घटित होता है, वह अपसंस्कृति की चरमता है। 'मर्द होने का समय' 'संगमरमरी जाँघ' 'फुसफुसाहट' जैसे मुहावरों में मोनालिसा मार्क्वेज़ बाल्ज़ाक का ज़िक्र अपसंस्कृति के रसपूर्ण बयान पर कोई पर्दा नहीं डालता। राजेन्द्र यादव की कहानी '**हासिल**' और कृष्णबिहारी की कहानी '**दो औरतें**' यह सब पहले ही बता चुकी हैं। पर संजीव 'द सण्डे पोस्ट' की साहित्यवार्षिकी में 'अभिनय' जैसी कहानी लिखते हैं, जिसका अर्थ अश्लीलता-कुत्सा-अपसंस्कृति से अलग है। संजय सिंह की कहानी में नेपाली वेश्याएँ भी आती हैं जो विकृत भोगवाद का उभार है। सवाल यह है किआप एक रचना में 'क्या' कहते हैं, 'क्यों' कहते हैं और 'कैसे' कहते हैं। यौनिकता अपसंस्कृति नहीं है। यौन उत्पीड़न अपसंस्कृति है। 'जादू किया रे, क्रेज़ी किया रे' मुहावरा अपसंस्कृति नहीं है। वस्तुओं का उन्माद अपसंस्कृति है। जादू तो जंगल का भी होता है। प्रत्यक्षा की कहानी 'जादू जंगल तिल तिल' 'आरण्यक' (विभूतिभूषण बंधोपाध्याय) की परम्परा में नया प्रस्थान है। साम्प्रदायिक सद्भाव की वापसी मानवीय संस्कृति है। यहाँ **अहमद नदीम कासमी** की कहानी '**फरहांद**' (लोकायत, 1-15 जनवरी 2008) को इस नज़रिए से पढ़ें, तो विभाजन-विस्थापन के दौर में बची ज़िन्दगीकी झलक मिलती है -

''कुछ दिनों में सिक्खों और हिन्दुओं ने अपनी दुकानें भी खोल लीं और पनघट भी आबाद हो गया और कांसी के चांदों में चांदनियाँ भी उड़ेली जाने लगीं और बड़ी गली के मोड़ पर बैठे हुए जाफर की मिर्गी के किस्से ताज़े हो गये। शांति एक हाथ से गागर थामे और दूसरे हाथ में दुपट्टे को सँवारती कहीं दूर देखती हुई आई और जाफर उठने की कोशिश में बैठा ही रह गया और सलेटी बिंदिया ने क्षितिज में घुली हुई किरणों से शांति के चेहरे पर गुलाल छिड़क दिया।'' यह संस्कृति की अपनी निजी स्वायत्त छवि है। पर, कहानी के अंत में हिंसा है - वही साम्प्रदायिक उन्माद का त्रासद अंत। अंतिम वाक्य है - 'आकाश में कांसी की गागर को एक बदली ने काट दिया था। **यूटोपिया का अंत** यही है। समय का दु:स्वप्न भी यही। विडम्बना यह है कि आज सांस्कृतिक राष्ट्रवाद या सांस्कृतिक गौरव के नाम पर **अपसंस्कृति** के उन्माद का विस्तार है।'

युवा कथाकार रवि बुले की कहानी '**हिल स्टेशन पर औरत**' में स्त्री की विलासचर्या युवा अतिथि से सान्निध्य, निमंत्रण, यौन सम्बन्ध और यकायक ख़्याल आना कि अतिथि जंगली भेड़िया है और प्रेम नहीं, मांस चाहता है — **अपसंस्कृति** का बयान है। कहानी इसे सधे हुए ढंग से व्यक्त करती है। अंत का नियंत्रण इसी अपसंस्कृति का प्रतिवाद है— जैसे पछतावा। पत्र के अंतिम शब्द थे : 'लेकिन तुम लौटकर ज़रूर आना'। **अखिलेश** की कहानी '**यक्षगान**' में पति की मर्ज़ी से सरोज से कइयों द्वारा सामूहिक बलात्कार— अपसंस्कृति का घिनौना खेल है। यहाँ यौन-हिंसा के साथ हिंसा भी है। छैलबिहारी (पति) सरोज को गोरखनाथ के हवाले कर देता है, जिसकी नज़र में सरोज 'चवन्नी छाप रंडी' है। सरोज को मीरा यादव (नेत्री) के सामने 'छिनाल' कहा जा रहा है। सरोज का 'केस' कुछ और बनता, अगर वह दलित होती। मठ-मंदिर-महंत इसी खेल में शामिल हैं। **संतोष चौबे** के उपन्यास '**क्या पता कामरेड मोहन**' में फ़ादर विलियम्स और रति का मुक्त यौन-सम्बन्ध **अपसंस्कृति नहीं** है - **अश्लील भी नहीं :** जैसे: 'हम दोनों शीशे के सामने खड़े थे और हमारी प्रतिच्छाया हम दोनों को और उत्तेजित करती जाती थी। उसी रक्त-उत्तप्त अवस्था में मैंने उसे दोनों बाँहों में उठाया और पास ही पड़े सफेद बिस्तर पर ले-जाकर लिटा दिया। उसके शानदार बुश से होते हुए मैंने धीरे से प्रवेश किया। अब मैं लम्बे-लम्बे प्रहार कर रहा था। वह पहले से ही उत्तेजित थी। मेरे अनुमान के विपरीत उसने जल्द ही गति पकड़ ली'। पर **पार्टी की तानाशाही, कार्तिक का निष्काषन अपसंस्कृति** है। राष्ट्रीय समिति की गतिविधियाँ राजनीतिक अपसंस्कृति के दायरे मेंआती हैं। जिसने आन्दोलन खड़ा किया हो, उसके निजी संबंधों के चलते पार्टी से अलग-थलग कर देना अपसंस्कृति है। नैतिक विज़न से वंचित राजनीति यही करती है। संस्कृति के उद्योग बनते ही अपसंस्कृति का ख़तरा प्रकट होने लगता है। आज '**मोबाइल टेररिज़्म**' इसी का लक्षण है। पोर्नो साहित्य ही अपसंस्कृति नहीं है। साहित्य के भीतर भी अपसंस्कृति का संकट देखा जा सकता है। पत्रकारिता में **स्टिंग आपरेशन**, या ब्लैकमेल करने की हिकमत अपसंस्कृति है। गणित की शिक्षिका उमा खुराना के साथ यही हुआ। अपहरण, फिरौती, लूटपाट, बलात्कार अपसंस्कृति के दायरे में हैं। काशीनाथ सिंह के नये उपन्यास '**रेहन पर रग्घू**' में रघुनाथ का दो लड़के अपहरण करते हैं कि उन्हें बड़ी सम्पत्ति हासिल हो सकती है — अपसंस्कृति है। रघुनाथ को तो लगता है कि वे उन्हें तीर्थ पर ले जा रहे हैं।

जातिवाद का नया उभार, हर समय होती **जातिगत** हिंसा अपसंस्कृति है। दलितों या अल्पसंख्यकों से नफ़रत अपसंस्कृति है। आज भेदमूलक दर्शन में जाति-युद्ध पर नयी बहस जारी है। मंडल आयोग, आरक्षण के समय से ही जाति युद्ध बढ़ा है, तो धार्मिक असहिष्णुता भी बढ़ी है। दंगों में सूरत-गुजरात की कुलीन महिलाएं लूटपाट में शामिल थीं। यह अपसंस्कृति का ही एक छोर है। सिक्खों को जला-जलाकर मारा गया- यह शर्मनाक प्रसंग सांस्कृतिक क्षरण का ही संकेत था। उत्तर औपनिवेशिक समय में जातिवाद का नया उभार अपसंस्कृति है। चुनाव की राजनीति में हिंस्र विभाजन अपसंस्कृति है। दलितों में भी कुलीनतावाद के नये रूप प्रकार हैं। **श्री लाल शुक्ल** के उपन्यास 'रागविराग' में यह ट्रैजिडी प्रकट थी। नवसामंतवाद के उभार की अपनी अश्लीलताएँ हैं। नशे में तेज़ गाड़ी चलाकर कईयों को ख़त्म करना और खुद ख़त्म हो जाना, यह अपसंस्कृति की चरमता है।

गुजरात-गौरव के मसीहा नरेन्द्र मोदी के राज्य में 'सूखा' की घोषणा के बावजूद कच्ची पक्की शराब की नदियाँ बहती हैं। यह पूँजी की चंचलता से अधिक है। यह करोड़ों का खेल है। नेता-माफ़िया एक हैं। मुसलमान बदनाम हैं, जबकि **कुलीन हिन्दू** इस विकृत **अपसंस्कृति** में लिप्त हैं। वैष्णव समाज का अंत यों ही नहीं हैं। गुजरात में सबसे अधिक बहुएं दहेज की मांग के चलते जला दी जाती हैं। ऊपर की शांति के नीचे यह **क्रूरता** या **बर्बरता अपसंस्कृति** है। अमेरिका ने जिस आतंकवाद को बढ़ावा दिया है, आज वही उसके लिए संकट है। ओमासा बिन लादेन को मिटाने की लाख कोशिशें नाकाम रहीं हैं। वह एक मिथ या किंवदन्ती

है। कभी बुश के देश में लादेन की तस्वीर टॉयलेट पेपर पर अंकित थी, कि फ़्लश करके बहा देंगे। आज वह रक्तबीज है। कई ओसामा बिन लादेन हैं। लादेन मुखौटा है। आतंकवाद आज ब्रांड है। वह बिक रहा है। दिल्ली-लखनऊ उसके निशाने पर हैं। हत्यारे छुट्टा घूम रहे हैं, क्योंकि अभियोग सिद्ध नहीं हो पा रहे हैं। सामाजिक न्याय असंभव मान लिया गया है।

सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया में समृद्धि की अतिशयता साधारणजन को ख़त्म करने पर लगी है। **विष्णु खरे** की कविता '**कठिनतर**' में जो अंकित है, वह यही - **अपसंस्कृति** का नया **उभार**-पूँजी का यही उत्तर-युग :

''माली, मोची, मज़दूर, नाई, धोती, इस्तरी वाले
और ऐसे सारे लोग जो फ़िलहाल पैदल साइकिलों बसों या मेट्रो के ज़रिये
काम पर आते हैं
वे अपने चौपहियों से उतरेंगे

जिनके पास कार नहीं है उनके यहाँ गाड़ी वाली जमादारिन भी
काम करने से इन्कार कर देगी
या करेगी भी तो हिक़ारत से''

(पाठान्तर, पृष्ठ 90-91)

यह नवपूँजीवाद है या नवकुलीनतावाद - कहना कठिन है। **अमृतलाल नागर** ने '**नाच्यो बहुत गोपाल**' में जिस ब्राह्मणी को जमीदार-परिवार से हटाकर जमादार की रखैल बना दिया, उसे क्या-क्या दुर्भाग्य झेलने पड़े। मैला ढोने से अधिक अश्लील फब्तियाँ सुनना यातना से से कम न था। पर यह एक ब्राह्मणी का अपना चुनाव था। वह अपने ज़मीदार परिवार से विच्छिन्न होकर जमादार प्रेमी के साथ भाग गयी। याद आते हैं **प्रेमचंद**, जिनका **संस्कृति-विमर्श** आज भी दस्तावेज़ है। उनके शब्द हैं: ''मेरी अभिलाषाएँ बहुत सीमित हैं। इस समय सबसे बड़ी अभिलाषा यही है कि हम अपने स्वतंत्रता संग्राम में सफल हों। मैं दौलत और शोहरत का उत्सुक नहीं हूँ। खाने को मिल जाता है। मोटर और बंगले की हवस मुझे नहीं है''। धन से दुश्मनी का सिद्धान्त एक प्रखर सांस्कृतिक हस्तक्षेप था। इसी प्रेरणा से **महाजनी सभ्यता** का **क्रिटीक** संभव था।

अपसंस्कृति हमारा आपका निजत्व ख़त्म कर देती है। रात दिन का भेद ख़त्म है। सब तेज़ चाल चलना चाहते हैं। सब उड़ रहे हैं। अबतो **लक्ज़री ट्रैवेल** पूँजी की महिमा बखान कर रहा है। जो सुविधाएं लक्ज़री ट्रेन में है, वह विमान में कहाँ! एक लाख तीस हज़ार का साप्ताहिक पैकेज है और अब 2008 में जगह ख़ाली नहीं है। जिसे **नायपाल** ने '**एरिया ऑफ डार्कनेस**' कहा था, यह चमक उस देश की है। कहाँ है समाज का अन्तिम व्यक्ति! वह तो देश के मानचित्र से बाहर है। अर्से बाद युवा कथाकार **हरिओम** की कहानी '**जगधर की प्रेमकथा**' (बया:3) इस अँधेरे क्षेत्र को कोने-अंतरे में प्रवेश करती है और अनकहे को शब्द देती है। जगधर ने आँखें गँवा दी हैं और आहट से महतिन के कपड़ों की सरसराहट, धीमी पदचाप जान लेते हैं। कहानी अंत में अंधेरे का विरल अकथित प्रतिपक्ष भी दिखाती है। जगधर कुलीन ब्राह्मण हैं - ज़मीन-जायदाद भी है। महतिन पिछड़े जाति वर्ग की। प्रेरणा जगधर को अंधेपन में महतिन से ही मिलती है। कभी **दयानंद** ने कहा था- 'जाति जन्म पर आधारित नहीं है, वह तो गुण, धर्म और स्वभाव के आधार पर तय होती है।' विडम्बना यह कि जाति नियामक हो गयी है। **शिवमूर्ति** 'नया ज्ञानोदय' (जनवरी 08) में छोटे लोगों के विरुद्ध जिसे '**सरकारी आतंकवाद**' कह रहे हैं, वह सत्ता की अपसंस्कृति है। उधर हरिओम

की कहानी '**जगधर की प्रेमकथा**' में महतिन के न रहने पर उनके बेटे-बहुएं जगधर की जो देखरेख, सेवा-टहल करते हैं, वह जातिग्रंथि से परे प्रेम की संस्कृति है।

उत्तर-आधुनिक समय में 'हाई' संस्कृति की जगह 'लो संस्कृति पर बल है - ग्रैंड ट्रेडिशन की जगह लिटिल ट्रैडिशन। कुरोसावा की फ़िल्म 'हाई एण्ड लो' जूते की सिलाई करते-करते उद्योग बना देने की जो युक्ति है - वह जीवट ही श्रम की संस्कृति है। अंधकार में भटकते हुए जो सत्ता बनाते हैं, वह विलास से अलग कर्म की संस्कृति है। अनामिका की कविता में प्रजनन भी संस्कृति है। 'रुई के फाहे' कविता के अंत में लिखती हैं-

- 'रुई के फाहों की तरह एक-एक अक्षर
उड़ते रहते थे हवा में-
उड़-उड़ कर जाते क्या
किसी नवप्रसूता की सौरि तक...
चुप्पी से ही काम चल जाता है अब तो!
परिपक्वता -
इसको ही कहते हैं सभ्यता!
परिपक्व जो होगा -
कभी-न-कभी अपनी डाल से टपक लेगा
ऐसे ही!'

(नया ज्ञानोदय : फरवरी 2008)

कविता में संस्कृति-विमर्श ऐसे भी संभव होता है। अपसंस्कृति से साहित्य का टकराव चलता रहता है। साहित्य की संस्कृति प्रतिरोध की संस्कृति है। बहुत दिन नहीं हुए, जन-आंदोलन भी साहित्य से संभव थे। अब भी साहित्य चुप-चुप सत्ता, साम्राज्यवाद, हिंसा, उत्पीड़न का प्रतिवाद करता है। अभी दो दिन पहले भगतसिंह के भतीजे जगमोहन ने कहा : 'भगत सिंह का सपना था कि नब्बे फ़ीसदी ग़रीब, कमज़ोर लोगों का राज होगा, परन्तु आज आज़ादी के साठ साल बाद भी 85 करोड़ लोग 20 रुपये से कम पा रहे हैं। यह चिन्ता का विषय है। अब तो अपसंस्कृति ही 'राज' बनाती बिगाड़ती है। बाहुबली लोकतंत्र को धनतंत्र बनाने पर लगे हैं। एक वृत्त चित्र '**कोड़ा राजी**' उत्तर बंगाल और असम के चाय बागानों में काम करने वाले आदिवासियों के विकट दारिद्रय पर केन्द्रित है। '**रब्बा हुन की करिए**' एक और वृत्त चित्र में विस्थापितों के अंत का वृत्तांत है। हमारे समय की छोटी फ़िल्में अपसंस्कृति का कठोर प्रतिवाद हैं। यही प्रतिरोध का सिनेमा है। प्रकारान्तर से प्रतिरोध का साहित्य।'

कभी **राहुल सांकृत्यायन** का सपना था कि 'मज़दूर संगठनों द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था भंग की जा सकती है और परिवर्तन लाया जा सकता है'। आज मज़दूर-संगठन सिरे से ग़ायब हैं - किसान-संगठन तो असंभव थे ही। निराला की चिन्ता थी कि कृषि प्रधान संस्कृति के होते हुए भी इस देश में किसान आंदोलन नहीं है। जनसंस्कृति के विरुद्ध शासक वर्ग 'एलीट' वर्ग का भविष्य बेहतर चाहता है, पर जनसामान्य उसका सरोकार नहीं है। **विद्यासागर नौटियाल** के शब्दों को कहानी से अलग देखें, तो नीचे पाये की जनता 'पाँव की जूती' है। समृद्धि का हाल यहहै कि — ''ख़ूब बेचो, ख़ूब ख़रीदो, ख़ूब खाओ, खूब उड़ाओ... दरवाज़े खोलो, खिड़की तोड़ो... अपराध करो...''। (दो पहियों वाले रिक्शे : असग़र वजाहत : बया - 1) **वीरेन डंगवाल** 'हल्दीराम भुजिया की कसम' में यही जगमग संसार दिखाते हैं, पर उनका व्यंग्य पूरे औपनिवेशिक, उत्तर औपनिवेशिक समय पर है।

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री **अरुण कुमार** मानते हैं कि विकास का मॉडल गाँधी के रास्ते चलता जो आज जैसी हालत न होती। असमानता यह कि 3 प्रतिशत एलीट वर्ग गाँधी को छोड़कर आत्मकेन्द्रित होता गया और उदारीकरण वैश्वीकरण के आगे उसने घुटने टेक दिये। वैश्वीकरण और अपसंस्कृति के विस्तार को एक साथ देखने की ज़रूरत है। कहना न होगा कि अपसंस्कृति के रूप-प्रकार अनेक हैं। दलित वर्ग के भीतर भी एक नया कुलीन वर्ग है। श्रम से उदासीनता से निठल्लापन भी है। अब लाटरी पर ज़्यादा भरोसा है, कर्म या श्रम पर कम। **अनिल चमड़िया** ठीक कहते हैं कि 'जातिवाद का विरोध जातिवाद नहीं हो सकता। जैसे आर्थिक आज़ादी का अर्थ साम्राज्यवादी नीति नहीं हो सकती।' क्या हम अरब-दुबई के तिलिस्म को तोड़कर सईद मिर्ज़ा की तरह किसी 'नसीम' को केन्द्र में ला सकेंगे? अपसंस्कृति के विरुद्ध वही होगी - प्रतिरोध की संस्कृति। जहाँ नव-सामंतवाद, नव-पूँजीवाद, नव-साम्राज्यवाद का गठजोड़ हो अपसंस्कृति का प्रतिवाद चुनौती से कम नहीं। '**जगधर की प्रेमकथा**' (हरिओम) अलग ढंग से प्रेम की संस्कृति को अपसंस्कृति का प्रतिवाद बनाती है: ''जगधर ने अपना पूरा आवेग, पूरी इच्छा उस एक स्पर्श के माध्यम से महतिन में उतारनी चाही। महतिन के एक साथ तमाम सवालों और समाधानों ने घेर लिया। यह उनके जीवन की अब तक की सबसे सुखद अप्रत्याशित स्थिति थी।'' संक्षेप में यह '**अप्रत्याशित**' ही चुप-चुप **अपसंस्कृति** का सार्थक **प्रतिवाद** है।

धारावाहिक
कुरजां : मनीषा कुलश्रेष्ठ/मुक्ति प्रसंग : अल्पना मिश्र

प्रियम अंकित

परंपरा और नवता

आज तर्कबुद्धि के पारंपिक शिष्टाचार से लैस सहृदय जब कहानी के नए स्थापत्य से रू-ब-रू होते हैं, तो उनके बोध की हालत वैसी ही होती है जैसे भयानक भूकंप के बाद किसी अभिजातवर्गीय के ड्राईंगरूम की। तो क्या यह माना जाए कि आज कहानी के नए देश की नींव का निर्माण परंपरारोधी ईंटों से हुआ है! परंपराजीवी लोगों का स्पष्ट मानना है कि परंपरा का ध्वंस करके, उसका विरोध करके नवीनता की सृष्टि नहीं हो सकती। मगर इतिहास उनके इस दावे का साक्षी नहीं बनता। कला के इतिहास में 'भविष्यवाद' और 'बीट काव्य' जैसे आंदोलन दर्ज़ हैं जिसमें परंपरा का ध्वंस कर नवीनता की सृष्टि की गयी थी। भले ही वह नवीनता कोई महत्वपूर्ण छाप न छोड़ पाई हो, इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि उसमें नयापन था। **दूसरी तरफ इतिहास टी.एस. ईलियट की इन पंक्तियों का भी गवाह बनता है — ''परंपरा विरासत में नहीं मिलती, बल्कि उसे कठोर परिश्रम द्वारा अर्जित किया जाता है।''** यानि विरासत को अगर बदलते बोध के आलोक में संवर्दित नहीं किया गया, तो वह रूढ़ियों में विघटित हो जाएगी। अत: यथार्थ के बदलते बोध और विरासत की पारस्परिक अंतक्रिया से ही नवता की सृष्टि होती है। यह नवता 'नयी' भी होती है, और महत्वपूर्ण भी। इसके अतिरिक्त एक रास्ता और है। कभी-कभी परंपरा की अनभिज्ञता भी नवता का सृजन करती है। लेखक को विरासत का कुछ पता नहीं, मगर तुक्का लग गया। पुरानी अंग्रेज़ी कहावत है - **''इग्नोरेंस इज़ ब्लिस''**। अनभिज्ञता के आनंद से उपजा नयापन मात्र सांयोगिक होता है। लेकिन कहानी मात्र संयोग नहीं होती। हाँ, संयोग को वह अपना विषय ज़रूर बना सकती है। एक सुस्पष्ट कलाबोध हमेशा उसका नियामक होता है।

हिंदी कहानी में कलाबोध के विकास को उसके कुछ महत्वपूर्ण आंदोलन के मार्फत समझने का प्रयास करें तो वह परंपरा खुलती हुई दिखाई देगी जो आज के युवा कहानीकारों के नए देश तक पहुँचती है। हिंदी कहानी को पहला सुस्पष्ट कलाबोध सामाजिक यथार्थवाद से मिला था। वह राष्ट्रीय आंदोलन का युग था। व्यक्ति की स्वतंत्रता को जटिल आयामों में परखने के बजाए राष्ट्रीय स्वतंत्रता की एकरेखीय अवधारणा का रूमान ज़ोरों पर था। विदेशी शासन के जुए को उतार फेंकने की भावुक लहर लोगों की गतिविधियों की अनुप्राणित कर रही थी। व्यक्ति की स्वतंत्रता को निहायत सरलीकृत ढंग से राष्ट्र की स्वतंत्रता के साथ जोड़ा गया। राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान गांधीवादी और कांग्रेसी उदारवादी प्रभुत्व ने कहानी के क्षेत्र में लंबे समय

तक सामाजिक यथार्थवाद को व्याख्यायित किया। लेखक के लिए सत्य-असत्य, अच्छा-बुरा, नैतिक-अनैतिक, पक्ष-प्रतिपक्ष, सकारात्मक-निषेधात्मक सब कुछ समाज की सतह पर ही मौजूद था। उसका काम कहानी में शब्दों के माध्यम से इस सतह को 'तेल रंगों' में चित्रित करना था। यथार्थ की यह सतही समझ स्वतंत्रता की उस भावुक और सरलीकृत सैद्धांतिकी की उपज थी जो गांधीवाद और कांग्रेसी उदारवाद के नेतृत्व में फलफूल रही थी, और जिससे भगत सिंह और आंबेडकर लगातार अपनी असहमति प्रकट कर रहे थे। आगे चलकर 'दाग दाग उजाला' और 'शब गज़ीदा सेहर' के रूप में जो आज़ादी हमें मिली उसने उदारवादी नेतृत्व के खोखलेपन को उजागर कर दिया। जाहिर है, अब यथार्थ की सतही और सरलीकृत समझ टिक नहीं सकती थी। लेखक यह समझ रहा था कि उसे अपना यथार्थ सतह पर नहीं मिलेगा। वह तो समस्त आलोड़नों और हलचलों को समेटे सतह के भीतर कहीं गहराई में छिपा बैठा है। वह सूर्य, जो सतह को चमकाता है और जिसके प्रकाश में सतह के आंदोलनों और गतियों का अध्ययन किया जाता है, खगोलशास्त्र का विषय है, साहित्य का नहीं। साहित्य को तो अपना सूर्य खुद गढ़ना होगा। यह एक विकसित कलाबोध था जिससे वाबस्ता होने के लिए लेखकों को आज़ादी का इंतज़ार नहीं करना पड़ा। प्रेमचंद ने कला की सतही समझ को झटककर अपने सूर्य को कहानी के बाहर नहीं, बल्कि उसके भीतर खोजा और 'कफ़न' जैसी कहानी का जन्म हुआ। 'कफ़न' में जिस परिवेश को लेखक ने गढ़ा है, वही उसका सूर्य है। खगोलीय सूर्य के प्रकाश में तो घीसू और माधव की गणना दुर्दांत अपराधियों में होगी। मगर प्रेमचंद जैसा परिवेश रचते हैं, उसके प्रकाश में घीसू और माधव की संवेदनहीनतायें सभ्यता की क्रूर और कड़वी सच्चाईयों को उद्घाटित करती हैं। रचे गए परिवेश के आलोक में प्राप्त की गई यह सच्चाईयां कहानी की उस परंपरा का नया यथार्थ बनी, जिसे हम प्रेमचंद की परंपरा कहते हैं। अमरकांत (प्रेमचंद की परंपरा के सशक्त रचनाकार) की कहानी 'ज़िंदगी और जोंक' में भी रचे गए परिवेश के आलोक में रजुआ जैसे चरित्र का यथार्थ रूपाकार ग्रहण करता है।

इस तरह कहानी की एक परंपरा विकसित हुई और यथार्थ के बदलते बोध के साथ कहानी का सूर्य भी बदला। आने वाली पीढ़ियों ने नए-नए रूपों में अपने प्रकाश-स्त्रोतों की खोज की। कहा जाता है जिस तरह प्रेमचन्द की परंपरा को उसका सूरज रचे गए परिवेश में मिला, नई कहानी की पीढ़ी को यह सूरज गढ़े गए परिवेश में मिला, नई कहानी की पीढ़ी को यह सूरज गढ़े गए व्यक्ति चरित्रों की आकांक्षाओं और अपेक्षाओं में और साठोत्तरी पीढ़ी को यह चरमराते मध्यवर्गीय संबंधों में मिला। अब आज हमारे सामने है युवा रचनाकारों की एक पूरी पीढ़ी! कहाँ पाया है इसने अपना सूर्य? अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ियों की तरह क्या यह पीढ़ी भी किसी एक 'सूर्य' के आधार पर समस्त रचनाक्रम को एक परिपूर्ण आंदोलन में 'क्लब' करने की छूट हमें देती है? आज सतह के नीचे छिपे यथार्थ की गति 'छिपी' नहीं रह गई है। ज्वालामुखी के विस्फोट की तरह जब यह यथार्थ तीव्रतम आवेगों में खण्ड-खण्ड होकर हर दिशा में तेजी से बिखर रहा है, तब क्या कोई एक सूर्य इस बिखराव को अपने प्रकाश के भीतर पूरी तरह समेट पाने में सक्षम है। आज इस खण्डित और गतिशील यथार्थ की सूक्ष्म, बहुरेखीय, संश्लिष्ट और नानाविध संरचनाओं (जबकि सारी संरचनायें आभासमात्र हैं) को किसी एक 'यूनिफाईंग' सैद्धांतिकी में बांधने के सारे प्रयास विफल होने को अभिशप्त हैं। भूमण्डलीकरण और सोवियत सत्ता का विघटन यथार्थ की इस नयी गतिकी का परिणाम हैं। जब सारे 'महा-आख्यान' यथार्थ के इस नए तूफान में उखड़ गए हों, तब किसी पीढ़ी की सृजनशीलता को थामने और प्रकाशित करने वाला सूर्य एक कैसे हो सकता है! यथार्थ की इस हिंसा ने हमारे भौतिक जगत को जितना तहस-नहस किया है, उससे कहीं ज्यादा तबाही हमारे सांस्कृतिक अंतर्जगत में मचाई है। हमारा बोध, संज्ञान, चेतना और स्मृति इस हिंसा के सबसे ज़्यादा शिकार हुए हैं। हमारे भीतर का अंधेरा और गहरा गया है। रौशनी के पारंपरिक स्त्रोत नष्ट हो चुके हैं। अत: कला का सूर्य भी विखण्डित हो चुका है- असंख्य और

अनगिनत सितारों में। इन सितारों की झिलमिल रौशनी ही आज के कला जगत को प्रकाशित कर रही है। इनमें से प्रत्येक तारे का प्रकाश और तीव्रता अलग-अलग है। यही कारण है कि युवा कहानीकारों का रचना संसार बहुवर्णी और विविध है। आज युवा पीढ़ी की रचनात्मकता को आवेशित करने के लिए किसी भी आंदोलन, पार्टी या विचारधारा का छत्र कम पड़ रहा है तो इसीलिए कि उसने परंपरा को कठिन परिश्रम से अर्जित किया है। युवा कहानीकार के बदले हुए यथार्थ बोध ने, कहानी की विरासत के साथ जीवंत अंतर्क्रिया के क्रम में जिस नवीनता की सृष्टि की है, उसकी पहली शर्त यही है कि कला के भीतर पूजे जाने वाले संप्रभु ईश्वरों को देश निकाला दे दिया जाए। यह काम युवा पीढ़ी कर रही है। साथ में कहानी के नए देश के लोकतांत्रिक संविधान का निर्माण भी जारी है। अत: किसी भी 'यूनिफाईंग फैक्टर' से बांधे जाने के सारे प्रयासों को यह पीढ़ी हिकारत के साथ देखती है। **उदाहरण के लिए हम मनीषा कुलश्रेष्ठ की 'कुरजाँ' और अल्पना मिश्र की 'मुक्ति-प्रसंग' को ले सकते हैं, जहाँ युवा पीढ़ी का बहुवर्णी और नानाविध संसार अनूठे अंदाज़ में प्रकाशित होता है।**

मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानी '**कुरजाँ**', वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति का दम भरने वाली यांत्रिक मुद्राओं का अभ्यस्त हो चुकी समाज व्यवस्था में व्याप्त 'प्रबोधन' के सच को सामने लाती है। विज्ञान और तकनीक की ताक़त से लैस सभ्यता का उपयोगितावादी दृष्टिकोण मानवीय संवेदनाओं की सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्तियों से अपना हित साधने में जहाँ असफल रहता है, वहीं वह उन्हें अवैज्ञानिक और समाज विरोधी करार दे देता है। भारतीय समाज में प्रबोधन की प्रक्रिया का आरंभ नवजागरण काल से माना जाता है। समाज सुधार के तमाम आंदोलनों और राष्ट्रीय मुक्ति के अनेकों अध्यायों को पार कर 'स्वतंत्रता' और 'आधुनिकता' का जो बोध हम तक पहुँचाया गया, वह संवेदना पर तर्कणा को, सहजता पर औपचारिकता को, परितृप्ति (फुलफिलमेंट) की आकांक्षा पर अधिकार कामना को, लोकविश्वासों में प्रचलित संवेगात्मकता पर सत्ता द्वारा पोषित वैज्ञानिक अनुसंधानों का महिमामण्डन करता रहा। ऐसा बोध यथार्थ के बहुस्तरीय नानाविध, जटिल और सूक्ष्म संस्तरों के आवेगमय संज्ञान को झूठ और अंधविश्वास का दर्ज़ा देकर खारिज करता रहा। यथार्थ के वैज्ञानिक बोध के नाम पर बोध की एकरेखीय वैज्ञानिकता की वकालत कर सत्ता के पोषक साहित्य और कला का अपने हक़ में इस्तेमाल करने का पुरजोर प्रयास करते रहे। सत्ता द्वारा प्रचारित इस उपयोगितावाद ने कला और साहित्य से उसकी ऊर्जा छीनने् का प्रयास तो किया ही, साथ में विज्ञान की जनवादी धरोहर को भी नष्ट कर दिया। मनीषा की यह कहानी बोध की एकरेखीय वैज्ञानिकता का अतिक्रमण कर यथार्थ के जटिल और बहुविध संस्तरों की पड़ताल करती है। इस तरह यह नयी चेतना के साहसी और प्रयोगधर्मी स्वभाव की गवाह बनती है।

कहानी के लंबे हिस्से का नैरेटर एक सेवानिवृत्त शिक्षाविद है। वह जींवेसर के रेगिस्तानी इलाके में अपनी 'हेडमास्टरी' के दिनों के अनुभवों को दर्ज़ करता है। यह अनुभव कुरजाँ नामक स्त्री के इर्द-गिर्द घूमते हैं, जो गांववालों की नज़रों में 'डायन' है। वाचक जीवन में कई असफलताओं को झेलने के बाद इस गांव में आता है - ''अजीब सन्निपात के रोगी के-से दिन थे, जब मेरा इस गांव 'जींवसर' में हेडमास्टरी के लिए चयन हुआ था।...बस, ये जानिए कि लंबी बेरोजगारी के चलते प्रेमिका ने कहीं और शादी कर ली थी, उम्र थी कि बीतती चली जा रही थी... घर में उपस्थित मेरा चेहरा पिता को तनावग्रस्त करता था, माँ को उदास...।'' इन सारी परिस्थितियों से उकताकर, उनसे भागकर वाचक यहाँ आया है। यह थार मरूस्थल का अंदरूनी हिस्सा, बिल्कुल पिछड़ा हुआ इलाका है। यहाँ के आम लोग भीरू किस्म के हैं, 'ज़मींदारी प्रथा खत्म होने के बाद भी' रावले के प्रति आतंकजनित सम्मान उनकी रगों में बसा हुआ है। बकौल वाचक -

---

* 'कठपुतिलयाँ' नामक संग्रह में संकलित।

''मुझे रावले के दबंग पुरुषों को देखकर हैरत होती थी कि वे गांव के आम आदमी से मिलने पर अब भी नज़राना स्वीकार करते थे। ''खम्मा घणी होकम'' सरल ग्रामीण दुहरे हो जाते, मगर उनकी गर्दन अभिमान से अकड़ी रहती।'' रावले के आतंक के साथ सत्ता के आतंक को झेलने के लिए भी वे अभिशप्त हैं – ''सीमा सुरक्षा बल के अफसरों-जवानों से वे दूर भागते थे... वे कुछ पूछताछ करते तो वे झुक-झुक कर उनके पैर छूने लगते मगर कुछ बताने के नाम पर खाली आँखों से ताकते। सीमा सुरक्षा बल के अफसरों को लगता था कि इस कस्बे की कुछ मुसलमान जनजातियों के तार सीमापार से जुड़े हैं, किन्तु ये बड़े घाघ हैं... इनसे कुछ भी उगलवाना कठिन है।'' जबकि सच्चाई यह है कि ''वे जीवन से पार न पा सकने वाली, मूलभूत कठिनाईयों से ही उबर नहीं पाते थे कि वे कुछ भी ऐसा सोच पाएँ या कर पाएँ जो स्मगलिंग या जासूसी से जुड़ा हो। अपने निर्दोष होने के बावजूद सीमा सुरक्षा बल के जवानों का डर उन्हें काठ किए रहता था।'' इस तरह यहाँ की जनता का भौतिक और आध्यात्मिक, दोनों ही किस्म का जीवन शुष्क हो चुका है। शुष्कता केवल बाहर के धार मरूस्थल तक ही सीमित नहीं है, बल्कि वह लोगों के भीतर भी व्याप गई है। लोगों का जीवन भी रेगिस्तान बन चुका है। पूरी कहानी में प्राकृतिक परिवेश एक जीवित सत्ता है, क्योंकि वह महज मनुष्येत्तर न होकर मनुष्य के अंतर्जगत की भी व्यंजना करता है। इसीलिए तेज़ हवाएँ लोगों के ''कच्चे झोपड़ों के छप्पर मज़ाक-मज़ाक में उड़ा ले जाती थीं, मगर इनके रंगीले साफों की बँधान ढीला करने में ये हवाएँ अक्षम रहती है।'' इनके अभावग्रस्त जीवन की झलक इस अंश में देखी जा सकती है- ''ये सीधे-सादे आचार-विचार के लोग आपस में एक दूसरे के प्रति ईर्ष्यालु भी हो उठते। अनाज के दाने-दाने के लिए खून-खराबा कर देते। पानी की बूँद के लिए औरतें बाल खींच-खींच कर झगड़तीं। प्राकृतिक विपदाओं से निरंतर आक्रांत उनकी संस्कृतियों में अन्धविश्वासों ने गहरी जड़ें जमा रखी थीं। अन्धविश्वास उनके आदिम विश्वासों को कभी नियन्त्रित तो कभी अनियन्त्रित करता था।'' ऐसी शुष्क जीवन स्थितियों के बीच वाचक की मुलाकात कुरजाँ से होती है। कुरजाँ का चरित्र जीवन की सहजता और जीवंतता से ओत-प्रोत है। यह सहजता और जीवंतता सत्ता, रावले और रेगिस्तान द्वारा अनुकूलित स्थानीय निवासियों की मानसिक जड़ता और शुष्कता को रास नहीं आती। अत: वे उसे 'डायन' और 'डाकण' घोषित कर देते हैं। मगर इसी सहजता और जीवंतता के चलते वाचक उसकी ओर आकर्षित होता है। इसी आकर्षण से बिंधे वाचक का कथन है – ''डायन! तो भी हाड़-मांस की जीती-जागती, साँस लेती? जवान खूबसूरत।'' पहली मुलाकात में ही वाचक के समक्ष स्थानीय लोगों द्वारा बनाई गयी धारणाएँ अपनी विश्वसनीयता खो बैठती हैं। कुरजाँ उससे यह अनुरोध करने आती है कि उसके बच्चे का दाख़िला वाचक विद्यालय में करा दे, जहाँ वह अध्यापक है। विद्यालय का चपरासी कालू उसके बच्चे को अंदर नहीं जाने देता। वाचक उसे आश्वस्त करता है कि वह कालू को समझा देगा। अचानक वाचक पर सम्मोहन हावी हो जाती है – ''नीले ठहरे हुए सरोवर झिलमिलाए। रेगिस्तानी भटकावों और प्यास से त्रस्त मैं मानो उन सरोवरों में कूद पड़ा।'' इसके बाद वह आत्मविस्मृत होकर उसका पीछा करते खारी बावड़ी के किनारे (कुरजाँ के घर के पास) पहुँच जाता है। यहाँ कालू से मिलने के बाद वाचक की तंद्रा टूटती है। कालू बताता है कि यह 'डाकण का वसीकरण' था जिसके प्रभाव से वाचक आत्मविस्मृत होकर वहाँ तक चला आया। कहानी का यह भाग महत्वपूर्ण है क्योंकि यह मानवीय आकर्षण को नयी दृष्टि से परखता है। साहित्य में वैज्ञानिक बोध की एकरेखीयता का महिमामण्डन करने वाले इस दृष्टि को अंधविश्वास का समर्थन करने वाली अवैज्ञानिकता से जोड़ेंगे। मगर वास्तव में यह अंश जीवन को उसकी सहजवृत्तियों में 'कैप्चर' करता है। सारे गांव वालों को कुरजाँ की आँखें बिल्ली की तरह हरी नीली लगती हैं। मगर वाचक को इन्हीं आँखों में 'मीलों फैले रेगिस्तान में पास-पास सटे दो शीतल सरोवरों' के दर्शन होते हैं। यहाँ 'शीतल सरोवर' शुष्कता के प्रतिलोम का रूपक बन कर आते हैं। कुरजाँ के व्यक्तित्व के प्रतिवाचक का जो लगाव है, वास्तव में वह मनुष्य के मनुष्यता के प्रति वृहत्तर लगाव की व्यंजना

करता है। इस लगाव के सामने सत्ता के प्रभुत्वकारी विमर्श द्वारा भाँजी गई स्मृतियाँ क्षीण हो जाती हैं, और संवेदनाओं के यन्त्रवत अनुकूलन से अर्जित 'आत्म' विस्मृत हो जाती है। ज़ाहिर है जीवन के यथार्थ को देखने का यह बोध अंधविश्वास और यान्त्रिक एकरेखीयता दोनों से समान दूरी बना के रखता है। इसलिए वैज्ञानिकों की सतही समझ रखने वालों को यह रास नहीं आता। वह तो कहानी में सतह पर मौजूद कृत्रिम और यान्त्रिक प्रारुपों को ही खोजेंगे! मगर जो सहजता सतह के भीतर मानवीय आत्मा के अंधेरे गहबरों में गतिमान है, वह पुराने ज़ंग खाए कलात्मक उपकरणों की पहुँच के बाहर है। अत: कुरजाँ और वाचक का संबंध मानवीय संवेदना के नए आशयों की खोज करता है। कहानी हमें 'कन्विंस' करती है, क्योंकि वह आख़्यानों के कृत्रिम संसार में जीवन के स्वत:स्फूर्त स्पन्दनों को दर्ज़ करती है। जब 'आर्ट' में निहित 'आर्टीफीशियल', 'स्पॉन्टेनिटी' को ध्वनित करने लगे, तो समझना चाहिए कि बड़ी रचना जन्म ले रही है। 'कुरजाँ' के साथ यही बात है।

कुरजाँ से जुड़े अंधविश्वास की पूरी जानकारी वाचक को कालू द्वारा मिलती है, जब वह विद्यालय में खाना खा रहा होता है। वाचक बताता है यहाँ का खाना तीखा है और पानी खारा। यह भी बताता है कि यहाँ के पानी और खाना दोनों का ही अभ्यस्त वह नहीं हो पाया है। इस पर कालू कहता है – ''साब जी, कब्ज़ हो जाएगी।'' यह कहने के बाद कालू कुरजाँ के अतीत के बारे में बताना शुरू करता है। गौर करने लायक है कि बगैर तीखा खाए भारी पानी को पचाना मुश्किल है। गांव के लोगों का जीवन रूपी जल भी भारी हो गया है। जीवन के इस भार को सहने के लिए गांव के लोगों ने अपनी संस्कृति के भीतर 'तीखे' को संस्कारित किया है। कुरजाँ से संबंधित अंधविश्वास संस्कृति के इस 'तीखे' को ही व्यक्त करते हैं। सामंती जड़ता के बोझ तले दबे लोगों के जीवन में 'डाकण' और 'डायन' जैसे अंधविश्वास कौतूहल, रहस्य और रोमांच की तीखी आदिम तड़प को संबोधित करते हैं. अत: गांववालों का कुरजाँ के प्रति जो दृष्टिकोण है, वह आदिमता के सीमांतों को छूता है।

कहानी 'आदिमता' और 'सहजता' के फर्क को सफलतापूर्वक ध्वनित करती है कुरजाँ नाम के मायने में – **''कुरजाँ एक पंछी होता है... मोर जैसा बड़ा, चमकने वाले सुरमई पंख, काली कलंगी... आँख के पास सफेद घेरा।... इसके गीत नहीं सुने? कहते है, जाड़े की चाँदनी रातों में ये पंछी जन्नत से उतरकर रेगिस्तानी झीलों के किनारे बड़ी तादाद में डेरा डालते हैं... जाड़े भर रहकर फागुन आने पर उड़ जाते हैं।...कुरजाँ एक ही बार जोड़ा बनाते हैं ज़िंदगी में, वो जोड़ा टूटे तो अकेले, झुंड से अलग यहीं छूट जाते हैं, फिर जन्नत नहीं लौटते, धीरे-धीरे गर्म रेत पर जान दे देतें हैं।''** 'आदिमता' में प्रतिबद्धता नहीं होती। जबकि सहजता के लिए समर्पण या प्रतिबद्धता की दरकार होती है। कुरजाँ नाम का पक्षी अपने साथी के प्रति समर्पित होता है। वह भी वहीं जान दे देता है, जहाँ पर उसके साथी ने दी थी। अत: कुरजाँ आदिम नहीं, बल्कि सहज है। आदिमता में एक किस्म का आवारापन होता है। इसीलिए कुरजाँ आवारा रूहों को अपने जिस्म पर नहीं बुलाती। जबकि यह हुनर उसकी माँ को आता था – ''आवारा रूह उसके जिस्म में बेलौस भटक कर उसे बेदम कर जाती थीं। मैंने सीखना चाहा पर उसने मना कर दी... जवान, कुंवारी लड़कियों को यह सब नहीं सिखाया जाता था। हमारे कबीले की बूढ़ियाँ ही यह सब किया करती थीं।'' कुंवारी लड़कियों को आगे चलकर समर्पित होना पड़ता है, अपने जीवन साथी के प्रति! शायद इसीलिए कुरजाँ की माँ ने उसे आवारा रूहों से दूर रखा है। जो भी हो, कुरजाँ सहज है, आदिम नहीं।

कुरजाँ का असीम समर्पण रहा अपने पति के प्रति। वह गांव में बहुत साल पहले अपने पति की तलाश में आयी थी, जो ठाकुर साहब के यहाँ बंधक मजदूर बन कर आया था। मगर वह लौट कर घर नहीं पहुँचा। रावले में कुरजाँ को घुसने नहीं दिया गया और कहा गया कि वहाँ कोई बंधक मज़दूर नहीं है। यह

बात प्रचारित करने की भरपूर कोशिश की गई कि उसका पति जासूस या स्मगलर था, और उसे बी.एस.एफ. वालों ने मार गिराया। कुरजाँ यह गांव छोड़कर नहीं गयी, ठीक अपने नाम के पक्षी की तरह। अपने कबीले से जड़ी बूटी का जो ज्ञान उसने अर्जित किया था, उसी के बूते वह कठिन संघर्ष करके अपना जीवन-यापन करने लगी। यहाँ तक कि भाग्यश्री बाँचने लगी। मगर उसका संघर्ष, उसकी सहजता, और उसकी जीवंतता शुष्क और जड़ स्थानीय परिवेश को रास नहीं आयी, और उसे रावले की शह में 'डाकण' बना डाला गया। पुलिस का दरोगा और बी.एस.एफ. उससे भूखे भेड़िए की तरह बर्ताव करने लगे क्योंकि ''अकेली औरत गोश्त की भुनी हुई नमकीन बोटी से ज़्यादा क्या होती है?'' उसे यकीन है - ''मेरे घरवाले को जो जबरदस्ती स्मगलर-जासूस करार कर दिया... जबकि वह मरा तो यहीं रावले की बेगारी में है।'' कुरजाँ संघर्षशील स्त्री की छवि रचती है जिससे ज़मींदार और सत्ता के कारकुन भयभीत हैं। वे डरते हैं कि यह स्त्री गांववालों की ज़ड़ता को अपनी जीवंतता में बहा ले जाएगी और विद्रोह व असंतोष की ज़मीन तैयार करेगी। इसीलिए वह उससे पर्याप्त सावधान हैं। उसे 'डाकण' तो घोषित कर ही दिया है, वह उसके खिलाफ षडयंत्र रचने का कोई मौका अपने हाथ से जाने नहीं देते। एक अकेली स्त्री ज़मींदार और सरकारी अफसरशाही की आँख की किरकिरी बनी हुई है। यह उसके भीतर के असीम वैभव का प्रमाण है। इस वैभव को महसूस करने लायक संवेदना वाचक के पास है, इसलिए वह अपने अनजाने ही कुरजाँ की मदद करने लगता है, उसके सुख-दुख में भागीदार बन जाता है। कुरजाँ के झोपड़े के भीतर उसके, वाचक और जुगनूं के बीच का वार्तालाप इन तीनों के मध्य आकार ले रही उस साझी दुनिया को सूचित करता है जहाँ संबंधों की सहजता और ऊष्मा मूल्यवान समझी जाती है।

आगे सामूहिक विवाह की रस्म का वर्णन है जहाँ बाल-विवाह की गैरकानूनी प्रथा का निर्वाह हो रहा है। यह रावले में ही हो रहा है, ठाकुर साहब की शह पर। वाचक प्रश्न करता है तो ठाकुर साहब उससे कहते हैं - ''हेडमास्टर साहब, आप तो मुँह बन्द करके इनकी मेहनमाननवाजी का आनन्द लो। ये तो अपनी पुरानी परंपराएँ हैं... इन्हें मिटाणा मुश्किल है। ...अब हमारे बच्चे बाहर पढ़णे लगे तो देर से ब्याव करते हैं... पढ़ी-लिखी बहुएँ आ गयी हैं... रावले-हवेलियाँ तो सूनी पड़ गयी हैं... ये परंपरायें अब गांव के इन्हीं मोहल्लों में ही बची रह गयी हैं। इन गरीबों के बहाने हमारी अपनी प्रथाएँ और संस्कार बचे हुए हैं।'' यह है सत्ता का तर्क, जो शुष्कता और जड़ता के औचित्य की अपने हित में व्याख्या करता है।

कुरजाँ अपने पुत्र जुगनूं को खोजते हुए इस समारोह में पहुँचती है। लोग बाग उसके आने से नाराज़ होते हैं और वह जुगनूँ को लेकर वहाँ से चली जाती है। समारोह में भोजन खाकर लोग बीमार पड़ने लगते हैं। वास्तव में लोग बीमार पड़ते हैं बासी मीट खाने से मगर इस सबके लिए कुरजाँ को ज़िम्मेदार ठहराया जाता है - ''रेबारियों के ब्याव में डाकण के आने से खाना ज़हर हो गया।'' ठाकुर कुरजाँ के खिलाफ उन्माद भड़काने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ता। वह गाँव के युवकों को 'हरी झण्डी दे देता' है, कुरजाँ को गाँव से बाहर निकालने के लिए। वाचक जब कालू को साथ लेकर कुरजाँ की झोपड़ी में पहुँचता है, तब तक वह गाँव वालों के उन्माद का शिकार बन चुकी होती है - ''मैंने कालू से टॉर्च लेकर उस पर डाली। उसने सहमकर अपना बायाँ हाथ आँखों पर रख लिया। अपने फटे कपड़ों को ढकने लगी। उसके गालों और गले के पास खरोंचों के गहरे निशान थे... दायीं भौंह के पास से कट गया था जहाँ खून जमकर काला पड़ गया था।'' जुगनू उसके पैरों के पास अचेत पड़ा था। कालू यह सब देखकर सहम जाता है, क्योंकि अब उसे कुरजाँ का सच पता चल चुका है। इस सबके बाद वह कुरजाँ को 'डाकण' नहीं, बल्कि 'बहन' कह कर संबोधित करता है। मगर गाँववालों का यह उन्माद कुरजाँ को तोड़ देता है - ''पहले भी रात को दरवाजा खटकाते थे, रावले के हाकम, बी एस एफ के जवान... खुद पुलिस के दरोगा... बत्तीस दाँतों के बीच ज़बान की तरह कैसी बची, मैं ही जानती हूँ। पर गाँव के छोरों ने पहली बार हिम्मतकी... भेड़ें भगा दीं। मुर्गियाँ

खोल दीं। जानवरों के टपरे में आग लगा दी। मेरे कपड़े फाड़े... बदसलूकी की.... मेरी छोड़ो जुगनू के साथ जो हुआ उसने मेरी हिम्मत तोड़ दी है माट्साब। कितना मारा उसे, टाँगों से उठाकर गोल घुमा के जमीन पे छोड़ दिया।'' अपने बेटे की ख़ातिर कुरजाँ गाँव छोड़ने का फैसला लेती है। वाचक के लिए कुरजाँ मनुष्य की सहज सभ्यता की आश्वस्ति लेकर आयी थी। उसके बूते वह यांत्रिक सभ्यता के पाशों से मुक्त होने का साहस बटोर सकता है। अत: वह कुरजाँ को रोकने के लिए जुगनू को गोद लेने का फैसला लेता है। कुरजाँ उसका भविष्य पहले ही बाँच चुकी है – ''तुम ताजिंदगी कुँवारे रहोगे।'' अब वाचक उसकी ''भविष्यवाणी'' को गलत साबित कर उसे चौंकाना चाहता है। मगर कालू उसे सूचित करता है कि कुरजाँ गाँव छोड़ कर जा चुकी है। सभ्यता के यन्त्रवत् पाशों से मुक्त करने का आश्वासन लेकर मानवता की जिस सहज दुनिया को वाचक ने अपने हाथ में पकड़ना अभी शुरू ही किया था, वह अचानक उससे छिनजाती है। एक भयानक 'सेंस ऑफ लॉस' उसको भीतर तक झकझोर देता है। कालू जैसे अंधविश्वासी के लिए जो कुरजाँ 'बहन' हो चुकी है, वही अब वाचक के लिए 'डाकण' बन जाती है – ''डायन कहीं की, अपना कहा सच करके चली गयी।'' जीवन की विमानवीकृत परिस्थियों की विडंबना और उनका तंज यहाँ पूरे आवेग में अभिव्यक्त होते हैं। छ: महीने बाद वह गाँव तो छोड़ देता है, मगर कुरजाँ के व्यक्तित्व के आकर्षण से वह कभी बाहर नहीं आने पाता। वह सभ्यता के यन्त्रवत् अनुशासनों से नफरत करने लग जाता है। यह नफरत कहानी के पहले वाक्य से ही ध्वनित होने लगती है – ''यह देखना डॉक्टर... तुम्हारे इस मेडिकल जरनल में क्या लिखा है, यह कहते हैं कि शरीर की हरेक कोशिका में मेमोरी स्टोर्ड होती है। ये तथ्य तब सामने आया जब अमेरिका में एक लड़की के शरीर में, एक ऐसे व्यक्ति का गुर्दा ट्रांसप्लांट किया गया, जिसका मर्डर हुआ था... तो उसे अपने उसी तरह कत्ल होने के सपने आने लगे थे, जिसतरह उसके मृत डोनर को मारा गया था। अब इसे क्या कहोगे तुम?'' यह विज्ञान और तकनीक की प्रगित सतही समझ पर प्रश्न चिन्ह है। वास्तव में वाचक कुरजाँ से बिछुड़ने के बाद सभ्यता के यंत्रवत दृष्टांतों का विकल्प आदिमता में तलाशने लगता है – ''पर बारीक कहानी बुनना, अतीत की आवारा रूह को देह पर बुलाने जैसा है। मैं बहुत पस्त मगर मुक्त महसूस कर रहा हूँ।'' आदिमता और सहजता के बीच के द्वंद्व को कहानी 'रिज़ाल्व' नहीं करती, मगर दोनों को ही पूरे आवेग में चित्रित करती है।

कहानी आदिमता के मनोविज्ञान को समझती है, अत: उसका समर्थन नहीं करती। खासबात यहहै कि कहानी मनोवैज्ञानिक गहराईयों के अजाने अंधेरों में उतरती है, मगर कहीं से भी किसी भटकाव का शिकार नहीं बनती। वह वर्तमान सभ्यता के बीहड़ इलाकों से गुज़र कर बाह्य को आभ्यान्तरीकृत करती चलती है। अंधेरी घुमावदार सीढ़ियाँ, फड़फड़ाते चमगादड़, खारी बावड़ी, शुष्क मरुस्थल आदि के माध्यम से हमारे यथार्थ की फंतासी रचकर यह कहानी पाठक के बोध को आस्वाद की बासी जकड़बन्दियों से मुक्त करती है, और कहानी-विधा की परंपरा में नया विस्तार लाती है।

* * *

अल्पना मिश्र की कहानियों की ताकत हैं उनके व्यक्ति चरित्र, जो कि ज़्यादातर स्त्रियाँ हैं – अपने अस्तित्व के यथार्थ को तलाशतीं संघर्षशील आम मध्यवर्गीय स्त्रियाँ। '**मुक्ति प्रसंग**' की स्त्री उस उदारवादी सोच पर प्रहार करती है जो स्त्री की आर्थिक स्वतंत्रता को ही उसकी मुक्ति का पर्याय मानती है। भूमण्डलीकरण और निजीकरण के पैरोकार भले ही यह प्रचारित करके अपनी पीठ थपथपा लेते हों कि स्त्री को रोजगार के अवसर प्रदान करके उन्होंने पुरुष की स्त्री संबंधी सोच को बदल डाला है। मगर सच्चाई यह है कि आर्थिक

संग्रह 'छावनी में बेघर' में संकलित

रूप से आत्मनिर्भर स्त्री पर परिवार और पुरुषसत्ता की रुग्ण और जड़ मनोवृत्तियों का शिकंजा और अधिक कसता जा रहा है। क्योंकि वह उसके समक्ष एक ज़्यादा बड़ी चुनौती के रूप में उभर रही है। 'मुक्ति-प्रसंग' की स्त्री डिग्री कॉलेज में अध्यापिका है। उसे रोज देहरादून से ऋषिकेश बस द्वारा आना जाना पड़ता है। इस स्त्री के बारे में वाचिका का कथन है - ''अब उन्हें डोसाईल (घरेलू, नाजुक) औरतें अच्छी नहीं लगतीं। इन्हें देखकर वे घबराने लगती हैं -अपने पुराने रूप की झलक, इतनी दब्बू, डरपोंक वे थीं क्या?'' यह कथन उसके आत्मविश्वास की व्यंजना करता है। इस स्त्री का घर की चारदीवारी से बाहर निकल कर नौकरी करने का फैसला अपना है। किशोरावस्था में ही परिवार नाम की संस्था के जिस भव्य और महिमामण्डित स्वरूप को सपने की तरह स्त्रियों की आँखों में सजाया जाता है, उसकी खोखली हक़ीकत के साक्षात्कार के बाद ही वह यह फैसला लेती है - ''कुल उन्नीस बरस में ही अपनी गर्दन पर भोला सा चेहरा लगाए दुनिया की समझ से बेखबर अपनी किताबों का छोटा सा संसार लिए डा. साहब के साथ चली तो आयी थीं। अब क्या बताईए, उस लड़कपने की आदर्श रूमानियत। अपनी शादी के बक्सों में, कपड़ों में तहा-तहाकर तो किताबें रखी थीं उन्होंने। अब यह तो सरासर उन्हीं की गलती थी कि वे एक रात में परिपक्व नहीं हो पायी! तो आगे पढ़ते जाने जैसे विद्रोह की पहली चिंगारी उनमें यहीं से सुलगी थी। और रास्ता भी क्या था? तो आगे पढ़ते जाने जैसे परिपक्व फैसले के बावजूद मायके से ससुराल तक उन्हें परिपक्व नहीं माना गया।'' लेकिन स्त्री को अपरिपक्व मानने वाली ऐसी तमाम 'परिपक्व' सोच के विरुद्ध जाकर वह घर से बाहर निकली है, बस से सफर कर रही है। बस के भीतर हैं यौनकुण्ठाग्रस्त भंगिमाओं के तीव्र प्रहार जिसे उसे अकेले झेलना है, रोज़। फिर भी वह इस बस को नहीं छोड़ती क्योंकि ''मुक्ति की साँस क्या घर बैठे मिलेगी? अब तो वे जान की बाजी लगाकर भी नौकरी करेंगी। यह उन्होंने आज नहीं बल्कि उसी दिन ठान लिया था, जब देहरादून से ऋषिकेश तक इसी बस में बैठकर पहले दिन गयी थीं। यह पहला दिन ही उन्हें मुक्ति का एक हल्का सा अहसास करा गया था।'' यह नयी स्त्री चेतना है जो यौनकुण्ठाग्रस्त भंगिमा की चेष्टाओं से भागकर दूसरों द्वारा गढ़े गए सुरक्षा के ख़ोल में दुबकने से इंकार कर देती है। यह चेतना अपना रास्ता खुद बनाने की पक्षधर है। कहानी में स्त्री की नई चेतना का हमसफर बनती है ऋषिकेश जाने वाली बस। इस तरह कहानी में बस एक रूपक है, जो स्त्री को सिर्फ ऋषिकेश नहीं पहुँचाती, बल्कि उसके नए यथार्थ तक भी पहुँचाती है। इसलिए ''अपनी लाबेला की चप्पल किसी के भी पैर पर रखते हुए, किसी के भी हाथ, कोहनी, कंधे, पुट्ठे से टकराते हुए, यहाँ तक कि कई बार तो कोई भद्दा आदमी जानबूझकरउसके उरोजों से टकरा जाता, पर वे लक्ष्य नहीं छोड़तीं, परवाह नहीं करतीं।'' इसी बस के भीतर उसे वह विचार 'कोंच मारते' हैं जिनसे वह घर और बाहर के उस यथार्थ को खोजती है, जो उसका अपना है, और जिसने अपनी प्रामाणिकता स्त्री के अनुभवों से हासिल की है। यह यथार्थ भयानक है, परिवार और समाज के मुखिया इसके प्रति बेपरवाह हैं क्योंकि वह इसमें भागीदार हैं- ''यदि वे डॉ. साहब को यही सब छीना-झपटी, यहाँ तक कि रगड़ा-रगड़ी की कहानी भी सुना दें तो भी वे यकीन नहीं कर पाएँगे। वैसे भी वे इस तरह की बातों को तूल नहीं देते।''

यात्रा के सामान्य क्रम में (जिसमें कई सारी असमान्यताएँ छिपी हैं) बस के भीतर स्त्री की मुलाकात होती है एक अधेड़ पुरुष से जो पहले तो उससे पैसे लेकर उसका टिकट लाकर देता है और बड़ी शालीनता से पेश आता है। लेकिन धीरे-धीरे इस शालीनता की पोल खुलने लगती है। उसकी यौनकुण्ठाजन्य शारीरिक चेष्टाएँ स्त्री को परेशानी में डाल देती हैं। वह बड़ी बेशर्मी से उससे परिचय गाँठने की कोशिश करता है और यह बताना नहीं भूलता कि - ''मेरी बेटी भी स्कूल में पढ़ाती है।'' बेहूदगी की हद तब हो जाती है जब बकौल वाचिका - ''कहकर उस अधेड़ ने अपना बायाँ हाथ, जो कि अब तक उसके दायें हाथ से सटा था, उठाकर उनके कंधे के पीछे कर लिया। अब उनके दायें हाथ का कंधा उसके सीने से सट रहा था। मगर बस जरा-सा हिचकोले खाए तो वे उसकी गोद में गिरते हुए बाहुपाश में बँध जाएँगी। 'अभद्र' उन्होंने सोचा।''

बुजुर्ग की अभद्र भंगिमाएं और चेष्टाएं स्त्री को हतप्रभ कर देती हैं – ''प्रेम और रोमांस। एक अतृप्त आकांक्षा – वे हतप्रभ थीं। – भारतीय समाज के बेचारे ये बूढ़े बुजुर्ग।''

तो बस के अनुभवों ने स्त्री को बता दिया है कि यह बुजुर्ग महज़ 'अभद्र' नहीं है, बल्कि भारतीय समाज का 'बेचारा बूढ़ा' भी है। यह स्त्री चेतना का नया आयाम है जिसे कहानी अंतर्ध्वनित करती है, और वह भी स्त्री विमर्श की तमाम वाचालताओं से कोसों दूर रहकर। यह स्त्री अपने यथार्थ को खोजते-खोजते पुरुष सत्ता के एक बड़े सच का साक्षात्कार कर बैठी है। और वह यह कि स्त्री की स्वतंत्र सत्ता को कुचल कर पुरुष सत्ता पर आधारित समाज व्यवस्था खुद आत्मिक समृद्धि से वंचित हो चुकी है। इस व्यवस्था के बुजुर्ग तक कुण्ठित हो चुके हैं। क्या स्त्री-स्वातंत्र्य केवल स्त्री की मुक्ति के लिए ज़रूरी है? क्या पुरुष की मुक्ति के लिए भी यह अपरिहार्य नहीं है? – यही सवाल यहाँ गूँजता है।

खैर, घर के बाहर अगर यह बेचारा बुजुर्ग है, तो घर के भीतर हैं पतिदेव डा. साहब – ''डा. साहब उम्र में ग्यारह वर्ष बड़े थे और हमेशा उन्हें ग्यारह वर्ष छोटी नादान बच्ची की हैसियत में बनाए रखते थे।'' भारतीय पुरुष की श्रेष्ठता की सारी दावेदारी उसके इस बोध में छिपी है कि वह सभी से ज़्यादा समझदार, परिपक्व और उसका रक्षक है। और फिर डा. साहब तो वैसे भी ग्यारह वर्ष बड़े हैं – समय का एक लंबा अंतराल है उनके और उनकी पत्नी के बीच। यह लंबा अंतराल, डा. साहब की परिपक्वता और उनका रक्षक रूप उन्हें कहां तक पहुँचाता है? गुनगुनी धूप में रति-क्रीड़ा के प्रस्ताव तक! यह रोमांस और प्रेम को पुरुषवादी मर्यादाओं द्वार भांजे जाने का सबूत है। कहानी प्रेम, रोमांस और पुरुषवादी मार्यादाओं के त्रिकोण की लैंगिक ज्यामिति का सटीक विश्लेषण करती है – ''एक अबूझ तृप्ति से निरीह, क्या कुछ छूट जाने के भय से शंकित, देह से कौन सा राग सुन पाने की असमर्थता में काँपते अब इस अधेड़ उम्र में डा. साहब अपनी देह उतारकर धर देना चाहते हैं तो आश्चर्य कैसा?'' डा. साहब के इस प्रस्ताव के आगे परिवार और गृहस्थी का जंजाल कोई अहमियत नहीं रखता क्योंकि वह तो स्त्री की ज़िम्मेदारी है – ''कहाँ छोड़ आएँ बच्चों को, कहाँ फेंक दे घर-गृहस्थीका जंजाल? कैसे डा. साहब का आदेश पालन करती गुनगुनाती धूप में रतिक्रीड़ा करें? और क्या करें – समझ में नहीं आता।'' यहीं खुलती है उस तथाकथित उदात्त अध्यात्मवाद और भौतिक सुखों के निषेध का नगाड़ा बजाने वाली संस्कृति की पोल जिसे भारतीय आचार-पद्धति से जोड़ा जाता है – ''ओह, च्यवन ऋषि! हमारी परंपरा के ऋषियों! बस देह ही अर्थवान है। वही आत्मा, ईश्वर, परिवार और समाज को अर्थ देती है। उसे ही सँभालना, स्वीकारना है।'' कहानी में आगे आनेवाला निम्नलिखित अंश एक फंतासी है जो स्त्री के आत्मसाक्षात्कार को प्रतिध्वनित करता है:

''बाथरूम में खड़े होकर उन्होंने शीशे में अपने चेहरे को देखा। फिर एक-एक कर कपड़े उतारे। गौर से अपनी देह को देखा, जैसे कोई दूसरी देह हो। एक अजीब थकान से बोझिल। कई जगह नीले छोटे-छोटे धब्बे हैं। अजीब बेढ़ंगी चाल है उनकी भी। जाने कब चेतन-अवचेतन में ये नीले धब्बे लगे हैं। क्या डॉ. साहब को ये कभी दिखाई नहीं पड़ते? उन्होंने अपनी देह को एक गहरे मोह से छू-छूकर देखा। क्या अब भी सोच सकती हैं वे – प्रेम के बारे में, आंखों, होठों, अग्नि, वायु और छाती पर लहलहाते नन्हें पौधों के बारे में? क्या अब भी उनकी देह से लावण्य नाम की कोई आभा फूटती है? तो क्या डा. साहब उनकी देह को कभी नहीं देखते? उनकी देह में किसी अन्य देह की कल्पना... छि:, उन्हें अनपे आप से घृणा हुई।'' यहाँ देह स्त्री के 'स्वत्व' का रूपक है – वह 'स्वत्व' जिस पर पारिवारिक और सामाजिक बाधाओं का आवरण है। शीशे के सामने खड़े होकर निरावृत होना पारिवारिक और सामाजिक बाधाओं से निरावृत होने का भी बिंब है। शीशे में जो देह प्रतिबिंबित हो रही है, वह स्त्रीसत्ता को ही बिंबित करती है। पूरे अंश में देह आत्मा के राज उभाड़ती है। और इस अंश का अंतिम वाक्य पुरुष द्वारा स्त्री के स्वत्व के निषेध का और निषेध से स्त्री

के भीतर उपजी आत्मग्लानि की व्यंजना करता है।

अब आगे स्त्री के लिए यह सवाल बचता है – ''आखिर अगर प्रेम जैसा कोई अलग एहसास नहीं, तो उसकी अतृप्ति इतनी बड़ी क्यों है?'' इसका जवाब देना कहानी का ध्येय नहीं है। बात बस इतनी है कि यह अतृप्ति बड़ी है और यह स्त्री और पुरुष दोनों को कुण्ठित करती है। कहानी के अंत में एक सुदर्शन युवक स्त्री से फ्लर्ट करता है। वह हतप्रभ होती है – ''ये हमारे कस्बे गलियों के लड़के, अपनी परंपरा और संस्कारों (?) की अज्ञात कुण्ठा से ग्रस्त। इन युवा लोगों के लिए भी प्रेम का कोई गंभीर अर्थ नहीं।... लेकिन क्या फिर प्रेम को स्वीकार न कर पाने की कुण्ठा उन्हें एक और अतृप्ति तक नहीं ले जाएगी? इस तरह ये हर बार, हर किसी से फ्लर्ट करने की कोशिश, फिर अतृप्ति से कुण्ठित, अतृप्ति के महाकुण्ड में डूब जाएंगे और बुढ़ापे में 'सबके लिए सद्भावना' की जगह एक पागलपन इनकी आँखों में झाँकेगा।'' इस तरह यह युवा और बेचारा बुजुर्ग एक शृंखला में बद्ध हो जाते हैं। 'युवता' का यह स्वरूप स्त्री को सकते में डाल देता है और वह युवक को कस कर डाँट देती है। युवक 'नर्वस' हो जाता है। वाचिका का कथन है– ''यह नर्वसनेस किसी प्रेम की दीप्ति से नहीं उपजी थी, बल्कि इसमें कोई बात कह दिए जाने के बाद या कोई पोल अचानक सामने आ जाने से उपजा नंगापन था।''

''वह उतर गया। वे मन ही मन आकर्षित हुई। अपनी इस कुण्ठा को वह कुण्ठा तक नहीं कह पाईं, बल्कि इसे मन ही मन उन्होंने कुछ अलग तरह की मुक्ति का अनुपम राग माना।''

इस तरह मुक्ति का यह अनुपम राग स्त्री मन की आकांक्षाओं पर पड़ी गांठों को खोलने की प्रस्तावना बनकर, कहानी में अपनी उपस्थिति दर्ज कराता है। स्त्री संघर्ष के ऐसे ही बिंब अल्पना की कहानियों को विश्वसनीय बनाते हैं। 'मुक्ति प्रसंग' का स्त्री चरित्र हमारे आस-पास की साधारण स्त्रियों में से ही एक है। वहस्त्री जो जीवन के अंधेरे उजालों के बीच अपने यथार्थ को पहचानती और पहचनवाती चलती है। अल्पना की अन्य कहानियों की तरह इस कहानी की भी खासियत है कि यह स्त्री को हाशिए पर रखने वाले, पुरुषसत्तात्मक विमर्शों को 'सबवर्ट' करती है, वो भी नारीवाद की सख़्त और क्रोधी मुद्राओं से कोसों दूर रहकर। अब तक के स्थापित मानदण्डों और मूल्यों की दुनिया में उथल-पुथल मचाने वाली यह कहानी जिस भाषा में रची गयी है, वह शांत और निर्मल है – बिल्कुल उस नदी की तरह जो अपने प्रशान्त आवेग में अतल गहराईयों को समेटे होती है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि युवा पीढ़ी ने कहन की कला को विस्तार देते हुए, नवता के स्थापत्य को परिभाषित करते हुए, कहानी की परंपरा में अपना वैशिष्टय तलाशने में सार्थकता सिद्ध की है। यही उसकी सफलता है।

नौजवान आलोचक प्रियम अंकित आगरा कॉलेज में अंग्रेजी के अध्यापक है।

यतीन्द्र मिश्र

ठुमरी के नैहर में बनारस की मैना

श्याम मोहे बाट चलत दीनी गारी
निरख हँसत सब ब्रिज की नारी
लाज की मारी इन गोपियन में
का रे कहूँ सुध बुध गई सारी
देखो 'चाँद' यह निठुर कन्हाई
उच्क-उचक कांकरी मोहे मारी।

– चाँद ख़ाँ
सम्राट औरंगज़ेब के दरबारी संगीतज्ञ की राग गौरी में ठुमरी की बन्दिश

I Shall be telling this with a sigh
Somwhere ages and ages hence :
Tow roads diverged in a wood, and i -
I took the one less travelled by,
And that has made all the difference.

- Robert Frost
(From 'The Road Not Taken')

जैसे दधि में घृत रहता है, अथवा काठ में आग रहती है : वैसे ही स्वर में श्रुति रहती है। प्रयत्न से उसकी उपलब्धि करनी चाहिए। एक स्वर से दूसरे स्वर पर बिना विच्छेद किये हुए इस प्रकार जाना चाहिए, जैसे धूप से छाया में।

– नारदीया शिक्षा : 1.6.18

वह सघन कुंज सुख पुंज भ्रमर की आली
कुछ और दृश्य है सुषमा नई निराली
बैठी है वसन मलीन पहिन इक बाला
पुरइन पत्रों के बीच कमल की माला
उस मलिन वसन में अंगप्रभा दमकीली
ज्यों धूसर में चंद्रप्रभा चमकीली...

– जयशंकर प्रसाद

'आकाश कुसुम' संग्रह से 'मलिना' कविता की पंक्तियाँ;
यह कविता प्रसाद जी ने सिद्धेश्वरी देवी पर ही लिखी थी।

(1)

निहायत बनारसी ढंग से भिण्डी की सब्जी बनाते हुए तान लगाने की कला में सिद्धहस्त गायिका के रूप में बरबस सिद्धेश्वरी देवी ही हमारे जेहन में उभरती हैं। अपने घरेलूपन में पूर्णतया सन्तुष्ट एक ऐसी महिला को याद करना बेहद रोचक एवं पुलक भरने वाला है कि सहज ढंग से साधारण जीवन गुजर-बसर करते हुए कोई कलाकार उसी क्षण कैसे अपनी कला की दुनिया को इतना अधिक भावप्रवण, महान व असाधारण बना पाता है।

आज जब सिद्धेश्वरी देवी नहीं हैं और उनका वह सुनहरा दौर भी लगभग अतीत के पन्नों में कहीं इतिहास बन चुका है, जब वे भारतीय संगीत समाज में सिद्धेश्वरी बाई के नाम से मशहूर थीं— ऐसे में इस तथ्य का स्मरण इस कारण भी ऐतिहासिक है कि वर्ष दो हजार आठ उनकी जन्म शताब्दी का वर्ष है। सौ वर्षों के कालजयी कालक्षेप के उपरान्त भी कोई आवाज़ अगर इतनी अधिक ज्वलन्त बनी हुई है, तब उसका पुनर्स्मरण एवं उस समय के दस्तावेज़ों से होकर गुजरना कहीं गहराई में भारतीय शास्त्रीय संगीत के प्रति अपनी अनन्यता को कुरेदने जैसा है।

बनारस की संगीत भरी गलियों में मिलने वाले ढ़ेरों फनकारों में सिद्धेश्वरी बाई का होना एक साधारण सी घटना थी। इस मायने में भी कि उसकी पूर्ववर्ती गायिकाओं— ***तौकीबाई, काशीबाई, टामीबाई, जद्दनबाई, विद्याधरी, बड़ी मोतीबाई, रसूलनबाई*** एवं ***कमलेश्वरी बाई***— सभी बनारस की मौसीकी को अपने-अपने ढंग से बयाँ करने में एक दूसरे से होड़ लेती दिखाई पड़ती थीं। फिर भी सिद्धेश्वरी देवी इस कारण अलग से रेखांकित किये जाने योग्य बन सकीं कि उस जमाने में बाईयों के घरानों की समृद्ध परम्परा की अन्तिम महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में उन्हीं का नाम आता है। वे अपने समय की मशहूर तवायफ गायिका ***मैनाबाई*** के परिवार से ताल्लुक रखती थीं। यह भी दिलचस्प पहलू है कि सिद्धेश्वरी देवी के साथ एक प्रकार से ठुमरी गायन की विकास यात्रा का समापन होता है। उस यात्रा का, जिसके दुर्गम पथ पर बनारस के ढेरों नामचीन तवायफों-गवैयों मसलन ***रतीबाई, मैनाबाई*** से लेकर ***बड़े रामदास जी*** एवं ***पं. महादेव प्रसाद मिश्र*** जैसे लोगों ने आरोहण किया था। सिद्धेश्वरी देवी के बाद उस तरह के गायन की थोड़ी बहुत निशानदेही कुछ-कुछ **गिरिजा देवी** में अवश्य मौजूद मिलती है, मगर यदि हम उस दौर का सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक आकलन करें, तो पाएँगें कि देशी राजा-महाराजाओं तथा नवाबों के खात्मे के साथ कला की शर्तों पर जीने वाली जो पीढ़ी पचास के दशक तक आते-आते अपनी पराकाष्ठा पर पहुंचकर बुर्जुग हो रही थी, सिद्धेश्वरी देवी उसके अन्तिम महत्वपूर्ण उदाहरण के रूप में सामने आती हैं।

इसी के साथ यह याद करना भी कम प्रासंगिक नहीं है कि सिद्धेश्वरी देवी के सौ वर्षों के आकलन में कहीं न कहीं बनारस की अपनी संगीतमय एक शताब्दी पुरानी पहचान भी मजबूती से साँस ले रही है, जिसमें पेशवाज़, ग़ज़रे, झूमर, बैठक़ी-महफिल, मुज़रों से लेकर पानदान, हुक्का व तमाशबीन सभी कुछ मौजूद है।

(2)

सिद्धेश्वरी देवी को समझने के लिए बनारस के अन्तरंग को समझने की भी जरूरत है। यह बनारस अवधूतों, योगियों, सिद्धों और शैव भक्तों का न होकर मस्तमौला फनकारों, उनके प्रति दीवानेपन की हद तक गुज़रने वाले रईसों, कलापारखियों और उन संकरी गलियों में बसने वाले गन्धर्वों का देवलोक भी है, जिसके अधिसंख्यक मकानों व हवेलियों से संगीत की स्वर लहरियाँ बरसों से न जाने कितनी शक्लों में निकलकर हवा में घुलती रही हैं। शायद इसी कारण बनारस या काशी का एक नाम, प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में **'गन्धर्व सेविता'** भी है। ऐसे ही किसी गन्धर्व आँगन की सुरीली मैना हैं सिद्धेश्वरी देवी; जिनके लिए बनारस किसी शहर से बढ़कर एक रवायत, एक दस्तूर, एक फलसफा और एक ज़िन्दगीनामा रहा है। इस ज़िन्दगीनामे में सैकड़ों किरदारों की रोशनी मौजूद है, जिनका उजाला आज हमारी निजी सांस्कृतिक पहचान बन गया है।

जिस दौर में सिद्धेश्वरी देवी की गायिकी का डंका बजता था, उस समय काशी के रईसों में तीन प्रकार की महफिल के आयेजन का प्रचलन था, जो क्रमशः ***गजरा, झूमर*** तथा ***दंगल*** कहलाते थे। गजरा में दो गायिकाओं के बीच प्रतियोगिता होती थी, जबकि झूमर में पाँच गायिकाएँ भाग ले सकती थीं और दंगल में कई गायिकाएँ अपने संगतकारों के साथ भाग लेती थीं एवं दो-तीन दिन तक चलने वाले समारोह में कई चरणों में गायन करती थीं। आजादी के पूर्व हिन्दी नवजागरण का जो समय है, उस समय बनारस एवं मिर्जापुर में कजरी गायन का दंगल होता था, जिसे भारतेन्दु मण्डल के अधिकांश रचनाकारों ने अपने लेखन में स्थान दिया है। इसमें पण्डित बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

सिद्धेश्वरी देवी के बारे में यह विख्यात था कि वे गजरा, झूमर तथा दंगल की सिद्धहस्त गायिका होने के साथ-साथ राजा महाराजाओं एवं कलाप्रेमी रईसों के यहाँ होने वाली बैठकी-महफिल की अप्रतिम गायिका मानी जाती थीं। उस समय की अनेक रियासतें मसलन ***ओरछा, दतिया, जयपुर, जोधपुर, बड़ौदा, रायगढ़, ग्वालियर, नाहन, बनारस, सरगुजा, काश्मीर*** और ***पटियाला*** के अलावा रामपुर के नवाब के दरबार में सिद्धेश्वरी देवी की महफिलें होती रहती थीं। उनकी लोकप्रियता एवं व्यवसायिक सफलता का अन्दाजा इस एक तथ्य से लगाया जा सकता है कि ओरछा दरबार में एक महफिल गाने की एवज में उन्हें प्रतिदिन का एक हज़ार चाँदी का सिक्का बतौर पारिश्रमिक मिलता था, साथ ही ट्रेन से आने-जाने का द्वितीय श्रेणी का किराया। सिद्धेश्वरी देवी की समकालीन गायिकाएँ भी उतनी ही अधिक नामचीन हस्तियाँ थीं, यह बात अलग है कि बाद में जाकर **बेगम अख़्तर** व **रसूलनबाई** को छोड़कर बाकी की अन्य गायिकाएँ धीरे-धीरे समाज द्वारा बिसरा दी गयीं। इनमें प्रमुख रूप से बनारस की *शैलकुमारी,* पंजाब की ***खुर्शीद***, अलीगढ़ की ***नवाब पुतली*** एवं काशी की ***काशीबाई*** प्रमुख हैं। कहने का सार संक्षेप यह है कि अपने समकालीनों से अलग अपनी विशिष्ट अदायगी के चलते सिद्धेश्वरी देवी की हैसियत दिनोंदिन न सिर्फ बढ़ती गयी, बल्कि जीवन के अन्त तक उनकी कला की श्रेष्ठता बदस्तूर कायम रही।

(3)

बड़ी मोतीबाई, रसूलनबाई और ***सिद्धेश्वरी बाई*** मिलकर जिस वृत्त की संरचना करती हैं, उसके केन्द्र में पड़ने वाले बिन्दु का आधार ***'ठुमरी'*** है। बनारसवालों के लिए ठुमरी एक ऐसी सलोनी विधा रही

है, जिसकी उर्वर जमीन पर ही बड़े-बड़े उस्तादों— फनकारों की ताजपोशी होती रही। सिद्धेश्वरी बाई के लिए ठुमरी मात्र गायन न होकर उनकी पहचान का प्रतीक था और यही बात उनकी दो वरिष्ठ समकालीनों- बड़ी मोतीबाई एवं रसूलनबाई के सन्दर्भ में भी सच थी। दरअसल ठुमरी के विकास और उसकी सम्पूर्ण प्रभावोत्पादकता को ***पूरब-अंग (मुख्यत: लखनऊ, बनारस एवं गया की शैली)*** की गायिकी के सन्दर्भ में देखना हो, तो हमें इन्हीं तीनों गायिकाओं की अदायगी को आधार बनाना होगा। बड़ी मोतीबाई जैसी पाटदार आवाज़ के साथ रसूलनबाई की मादकता और बोल-बनाव के अन्दाज़ को सिर्फ सिद्धेश्वरी बाई की भावप्रवण एवं जवारीदार आवाज़ ही टक्कर दे सकती थी। उनके समकालीन अधिसंख्य कलाकारों ने इस बात का जगह-जगह पर जिक्र किया है कि सिद्धेश्वरी देवी जैसी **पुकार की तान** लगाने वाला बनारस में जल्दी कोई दूसरा नहीं हुआ। यहाँ यह देखना बड़ा रोचक है कि यह बात तब कही जा रही है, जब बनारस में एकसे बढ़कर एक कलावन्त मौजूद थे। ऐसे में सिद्धेश्वरी देवी के बरअक्स बड़े रामदास जी, विद्याधरी, पण्डित महादेव प्रसाद मिश्र एवं हुस्नाबाई जैसे मूर्धन्यों का नामोल्लेख काबिलेगौर है। हालाँकि सिद्धेश्वरी देवी स्वयं बेहद विनम्र अदाकारा थीं, जिसकी शिनाख़्त गाहे-बे-गाहे उनके वक्तव्यों से स्पष्ट होती भी रही है। मसलन, अपनी समकालीनों के सन्दर्भ में दिया गया उनका यह ऐतिहासिक बयान प्रसंगवश यहाँ याद करने योग्य है- ***''जिस महफिल में केसरबाई (बंबई), नूरजहाँ (कलकत्ता), अच्छनबाई (लखनऊ), नन्हींबाई-मुन्नीबाई (ग्वालियर), विद्याधरी एवं स्वयं मैं होती, वैसी महफिल का समाँ अब देखने को नहीं मिलेगा।''***

ठुमरी के सन्दर्भ में पूरब-अंग की गायिकी को एक उदार धरातल पर देखने की कोशिश में हम पाते हैं कि सिद्धेश्वरी देवी की रसभीनी गायिकी के साथ ही रसूलन बाई एवं बड़ी मोतीबाई की परम्परा अपना चरम पाती है। मेरा व्यक्तिगत ख्याल यह है कि इन तीनों गायिकाओं के बाद, आज समकालीन अर्थों में बनारसी ठुमरी वह नहीं रही, जो कभी इन लोगों के समय में थी। गिरिजा देवी एक अपवाद जरूर हैं, मगर उनको छोड़कर आज यह नहीं लगता कि उस महान रचनात्मक परम्परा से अलग ठुमरी में थोड़ा बहुत भी नवाचार सम्भव हो पाया है। वर्तमान समय में ठुमरी जिस मुकाम पर है, या भविष्य में ठुमरी जहाँ कहीं भी पहुँचेगी- यह अवश्य होगा कि उसे अपने नवाचार के लिए या नयी राह बनाने के लिए कम से कम ***बड़ी मोतीबाई, रसूलनबाई*** एवं ***सिद्धेश्वरी बाई*** के घरों के दरवाजों को खटखटाना होगा। यदि ऐसा नहीं हो सका, तो यह अवश्य होगा कि ठुमरी अपना नया उत्कर्ष पाने में असमर्थ साबित होगी। बनारस के लिए, साथ ही पूरब-अंग की गायिकी के लिए भी यह दु:खद स्थिति है कि हमने इन बाईयों के जाने के बाद उपशास्त्रीय गायन की इतनी समृद्ध विधाओं को लगभग हाशिए पर पहुंचा दिया है। हाल के दशकों में दिवंगत हुई ***निर्मला देवी, बागेश्वरी देवी*** एवं ***शोभा गुर्टू*** के जाने के बाद तो ठुमरी के अलावा हमें एक बार गम्भीरता से ***दादरा, कजरी, चैती, टप्पा, होरी*** एवं ***सादरा*** के बारे में भी सोचना होगा कि भविष्य में इन विधाओं में कितना चमक व तेज बाकी रह सकेगा?

(4)

सिद्धेश्वरी देवी की ठुमरी गायिकी का अध्ययन काफी रोचक एवं ठुमरी के विकास के मद्देनजर बेहद महत्वपूर्ण है। परम्परागत रूप से बनारस के विभिन्न घरानों मसलन ***पियरी, दरगाही मिश्र, तेलियानाल*** एवं ***सेनिया घराने*** में होने वाली ठुमरी की गायिकी थोड़ी भिन्न थी। सिद्धेश्वरी देवी की उपशास्त्रीय विधाओं की अदायगी में एक दुर्लभ किस्म का संयम हम आसानी से ढूँढ सकते हैं। एक प्रकार की प्रशान्त उदात्तता, जो भावों के विस्तार अथवा संक्षिप्ति के समय बेहद नपे-तुले एवं सहज ढंग से व्यक्त होती थी। एक हद तक हम यह कह सकते हैं कि सिद्धेश्वरी के यहाँ ठुमरी परम्परागत ठुमरी न रहकर ख्याल की सहोदर थी अथवा

ख्याल से मैत्री करके उसके समवाय में बढ़ने की प्रक्रिया बनती थी।

सीधे-साधे शब्दों में यही कहा जायेगा कि सिद्धेश्वरी की ठुमरी पर ख्याल गायिकी का सीधा प्रभाव था। उनके यहाँ बढ़त का हिसाब, बोल बनाने का ढंग और ठुमरी में सरगम भरने की मान्यता, सभी कुछ बेहद सधे ढंग से ख्याल की परिपाटी का अनुगमन करते हुए ही आगे बढ़ते थे। उन्होंने स्वयं कई जगह स्वीकारा भी है कि ठुमरी को ख्याल की तरह गाना चाहिए। जिस तरह ख्याल में पूरा आवर्तन भरकर गाते हैं, ठीक उसी तरह किसी ठुमरी की शुरुआत में पहले एक आवर्तन भरना चाहिए, फिर ठुमरी के बोल बनाकर चलन-बढ़त का दर्शन करना चाहिए। यह चीज़ एक ख़ास बात की ओर इशारा करती है कि पूरब-अंग की गायिकी,जो पूर्णतया भाव प्रधान और बोल बनाने के उपक्रम में संलग्न रहती है, उसमें कुछ विचलन पैदा करते हुए सिद्धेश्वरी जी ने उसमें (मुख्यत: ठुमरी और दादरा में) घरानेदार ख्याल गायिकी के मिज़ाज़ को थोड़ा बहुत ढ़ालने की कोशिश की है।

उनका यह कदम बनारस में ठुमरी गाये जाने की पूर्ववर्ती परम्परा में एक हद तक विद्रोही कदम माना जायेगा। शास्त्रीय अर्थों में हम उसे एक विचारवान कलाकार की अपनी कला को और अधिक निखारने के लिए उठाया गया प्रगतिशील कदम मान सकते हैं। हालाँकि सिद्धेश्वरी देवी के बारे में यह मान्यता भी पूरी दृढ़ता के साथ संगीत के हल्कों में प्रचलित मिलती है कि उन्होंने कभी भी घरानेदारी या परम्परा के प्रति अपना तेवर कड़ा या अड़ियल नहीं रखा। वे एक आस्थावान महिला थीं, साथ ही बनारस के हर छोटे-बड़े रस्मो-रिवाज़ को गम्भीरता से मानने वाले कबीर चौरा की ठेठ नागरिक। फिर भी उन्होंने अपनी कला में यह जरूरी समझा कि उसको जस का तस अपनाने से बेहतर है, उसमें अपने ढंग से कुछ सलोना जोड़ना। बनारस की फक्कड़ कबीरी चादर पर जिस खूबसूरती से अपनी उत्सुकता एवं कल्पनाशीलता की चाँदनी, सलमें-सितारे, गोटे व जरीवाली लड़ियाँ सिद्धेश्वरी बाई टाँक पायीं, वह उस दौर की सबसे प्रगतिशील घटना थी।

ठुमरी को ख्याल के गलीचे पर उसके समकक्ष बिठाने का जो श्रेय लेना उनकी पूर्ववर्ती गायिकाओं व गुरुओं ने आरम्भ किया था, उसे एक सम्मानजनक मोड़ देने में सिद्धेश्वरी जी का कोई सानी नहीं है। इस मायने में वो प्रशंसा से परे की चीज़ हैं। एक स्तर तक ऐसे फनकारों की श्रेणी में रखने योग्य कला साधिका, जिनका गायन जितना ऐतिहासिक बन पड़ा है, उससे ज्यादा ही गायिकी के क्षेत्र में किया गया उनके द्वारा नवाचार का काम। शास्त्र और लोक के अन्तरालाप से, आस्था और घरेलूपन के सहज प्रमाण-पत्र से एवं भावाभिव्यक्ति में परम्परागत रवैये तथा प्रगतिशील तर्कों के सामंजस्य से मिलजुल कर बनने वाली बीसवीं शताब्दी के बाकी के अर्द्धशती की ठुमरी का सतरंगी डोला सिर्फ और सिर्फ सिद्धेश्वरी देवी के ही आँगन में रखा जा सका है। इस प्रकार परम्परा की लीक पर चलने वाली तौकीबाई एवं मोतीबाई की पारम्परिक ठुमरी को रसूलनबाई एवं सिद्धेश्वरी देवी की ठुमरी ने सलोनापन बरजते हुए उत्कर्ष पर पहुंचाया है। एक ऐसे मुकाम पर जहाँ पर पूर्ववर्ती बनारसी ठुमरी की अदायगी एवं समकालीन ठुमरी की भावाभिव्यक्ति के मध्य एक मनोहारी परन्तु समन्वयशील पुल बनाती है।

ठुमरी की बात चल ही पड़ी है, तब काशी की बाईयों के सन्दर्भ में यह जोड़ना भी समीचीन जान पड़ता है कि यहाँ पर ठुमरी और दादरा की गायिकी में अवध तथा उसके अन्य रकबों में मशहूर वाग्गेयकारों की बंदिशों खालकर ***ललन पिया, सदन पिया, कदर पिया, सदारंग-अदारंग, बिन्दादीन महाराज, मुहम्मद शाह रंगीले*** एवं ***नवाब वाज़िद अली शाह*** आदि के गायन के अलावा ऐसे-ऐसे सन्तों, कवियों, निर्गुणियों और कलाप्रेमियों की चीज़ें ढूँढ-ढूँढकर बाईयाँ ठुमरी में गाती रहीं हैं, जो अन्य किसी जगह नहीं मिलता। मसलन ***कबीर*** के ढेरों पद, ***भारतेन्दु हरिश्चन्द्र*** की कजरियाँ, ***मीर रुस्तम अली सिपाही*** की

याद में बाईयों द्वारा रचित गीत *'कहाँ गयो मेरो होली को खेलैया, सिपाही रुस्तम अली बॉको सिपहिया'*, *बाज बहादुर* की बंदिशें, *पलटू* एवं *दरिया* की बानियाँ व झूलना के पद, *रसखान, रहीम, रसलीन* एवं *स्वामी हरिदास* आदि के पदों का गायन काशी की विशेषता व धरोहर दोनों ही रही है।

इन्हीं सन्दर्भों में एक रोचक तथ्य की ओर इशारा करना भी प्रासंगिक होगा कि बाईयों ने अपने सीमित वातावरण में रहते हुए भी ढ़ेरों प्रयोग ठुमरी एवं अन्य उपशास्त्रीय गायन की विधाओं में सम्पन्न किये थे, बावजूद उसके ठुमरी को उस समय सम्मान की निगाह से नहीं देखा जाता था। घरानेदार संगीतज्ञ मुख्यत: ठुमरी को हेय दृष्टि से देखते थे। वे इसे *'बाई जी का गाना'* या *'छोटी चीज़'* कहते थे। बानगी के तौर पर *पण्डित विष्णु नारायण भातखण्डे जी* द्वारा उनकी कृति *'क्रमिक पुस्तक मालिका'* के चौथे भाग में ठुमरी के प्रति उनका मत देखने योग्य है- *''ठुमरी भी एक क्षुद्र गीत ही माना जाता है।... उच्च कोटि के गायक ठुमरी गान को निम्न कोटि का गान कहते हैं।''* फिर भी इस बात से कौन ऐतराज़ कर सकता है कि ठुमरी, दादरा, कजरी जैसी विधाओं में जितना लचीलापन, शृंगार, माधुर्य और लोनाई पिछले सौ वर्षों में भर उठा है, उसमें कहीं न कहीं बनारस की बाईयों, तवायफों व गौनिहारिनों के घरों के साज़, सुर तथा आवाज़ भी आपस में गड्डमड्ड होकर उसकी उत्कृष्टता से बावस्ता हो गये हैं।

(5)

सिद्धेश्वरी देवी के व्यक्तित्व एवं उनकी अदायगी के सम्मोहन का एक विशिष्ट पहलू उनके द्वारा सदैव व्यक्त होने वाले 'उल्लास' एवं 'उत्साह' में भी छिपा हुआ है। गाते वक्त हँसने की मुद्रा तक पहुँचा हुआ, उल्लसित मन एकबारगी उनके प्रेम में बुरी तरह जकड़ देता है। अवसाद, थकान, निराशा और दु:ख की खरोंचें, दरारें या बहुत हल्की सी लकीरें कहींसे भी उनकी कला-यात्रा में ढूँढ़ी नहीं जा सकतीं। एक हद तक वह प्रमुदित मन से अपने पसन्द के रागों को उदारतापूर्वक श्रोताओं एवं प्रशंसकों के लिए उड़ेलती रहती हैं। कभी-कभार तो यह मुक्त हस्त प्रसन्नता का दान घोर विस्मय में डाल देता है कि एक ही समय में हम गायिकी के प्रति समर्पित हों या कि स्वयं उन जैसी साधुवृत्ति गायिका के मन-दर्पण के प्रति आस्थावान बन जाएँ। हर ओर से उनका उत्साह, प्रेम, उल्लास और मंगल मनाने का सात्त्विक भाव भीतर से उनके प्रति बेहद आदरणीय व जिज्ञासु बना देता है।

हालाँकि यह तथ्य भी बेहद कम लोग जानते होंगे कि सिद्धेश्वरी देवी के मानस का मूल-भाव अवसाद या पीड़ा से उपजता है। वे अकसर कहती भी थीं - *''गाना बजाना वही अच्छा, जो दिल को छू जाए।''* स्वयं उनकी बेटी सविता देवी बताती हैं, कि अकसर रियाज़ कहते वक्त या कोई बंदिश गाते समय उसमें डूब जाने पर वह रोने लगती थीं। उनकी रोज की पूजा-प्रार्थना में गाना और रोना स्थायी भाव से शामिल था। तुलसीदास रचित भजन 'शरण मोहे राखि ले रघुराई' रोज ही प्रार्थना के समय गाती थीं और इसकी स्वर लहरियों के साथ-साथ रोती रहती थीं।

संगीत की अदम्य आकांक्षा की प्रतिश्रुति के तौर पर रोना उनकी असली आराधना थी। किसी भी ठाकुर जी या देवी प्रतिमा की पूजा से बढ़कर। यह उनके अन्तस का बाहर की दुनिया के लिए आभार प्रदर्शन था, जिसमें रोना संगीत में एक सच्चा सुर लगाने के समकक्ष बैठता था। यह अकारण नहीं है कि उन्हें लता मंगेशकर के असंख्य दर्द भरे नगमें बेहद प्रिय थे और पाकिस्तानी गायिका रेश्मा का कलाम- *'हाय ओर रब्बा, नई अे लगता दिल मेरा'*। अमहद फराज़ की मशहूर ग़जल अकसर अपनी बेटियों से फरमाईश करके गवाती थीं, जिसके बोल थे - *''बातें ही सुनाने आये/दोस्त भी दिल दुखाने आये''*।

न जाने कितने दोस्तों ने ऐसी वत्सल हृदय गायिका का दिल दुखाया होगा, कहा नहीं जा सकता;

मगर इतना अवश्य सच है कि सिद्धेश्वरी देवी की ढेरों ठुमरियाँ, कजरियाँ और टप्पे सुनकर आज भी बरबस आँखों की कोरों पर पानी उतरने लगता है। उनकी पुकार तान की कशिश चैन से बैठने नहीं देती, जब राग मिश्र परज में ठुमरी की इन पंक्तियों पर उनके स्वर कुछ यूँ बलाघात करते हैं—

जाओ जाओ जाओ जी/मस्त पिया तुम जनम के झूठे/झूठी बतियाँ तोरी जो पतियाए/बार-बार मोसे करत ढिठाई/निकसत नाहीं तोरे जिया की दुहाई/जाओ जाओ जाओ जी/सगरी रैन सौतन संग जागे/भोर भये घर आये बात बनाए/जाओ जाओ जाओ जी...

(6)

सिद्धेश्वरी देवी की गायिकी के संदर्भ में बरबस ही नृत्यांगना बालासरस्वती का स्मरण हो आता है। यह संयोग ही कहा जायेगा कि यह स्मरण इन दोनों फनकारों को कई मायनों में एक ही धरातल पर पहुँचा देता है। कभी-कभी यह भी लगने लगता है कि बालासरस्वती का नृत्य एवं सिद्धेश्वरी देवी की ठुमरी की अदायगी, एक दूसरे के करीब आ गये हैं या कि एक दूसरे की कलाओं के पूरक बन बैठे हैं।

इस तथ्य को समझने के लिए हमें दोनों की रचनात्मक मान्यताओं को बहुत संयम एवं हार्दिकता से खँगालता होगा। आज यह सर्वमान्य तथ्य है, साथ ही, अधिकांश लोग, रसिक समाज एवं संगीत आलोचक भी यह मानते रहे हैं कि सिद्धेश्वरी देवी की ठुमरी की प्रस्तुति में श्रृंगार का भाव कम व भक्ति की प्रधानता अधिक रहती थी। स्वयं सिद्धेश्वरी जी ने इस बात पर बार-बार अपना आग्रह स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है कि हमेशा ही वे ठुमरी के माधुर्य भाव को किसी प्रियतम की आकाँक्षा से परे हटाकर, ईश्वर की तल्लीनता में गाती रही हैं। इसी कारण उनके यहाँ ठुमरी में ख़्याल की उदारता के साथ-साथ भक्ति का सम्पुंजन पूरी आस्था के साथ मौजूद रहा है। इसी के चलते उनकी ठुमरी और दादरा पूर्णतया श्रृंगार भक्ति का उदाहरण रहे हैं, जिसमें भक्ति सवैद ही प्रेम पर भारी पड़ी है। यह अपने आप में बेहद रोचक है कि भरतनाट्यम की प्राचीन परम्परा में सबसे प्रगतिशील दौर बालासरस्वती एवं रुक्मिणी देवी अरुण्डेल का माना जाता है। इस सन्दर्भ के चलते यह जानना सुखद है कि अधिकांश देवदासियाँ मन्दिरों और अन्य स्थानों पर होने वाले नृत्य में श्रृंगार भक्ति का प्रदर्शन करती हैं। ***'श्रृंगार भक्ति'*** की यह अवधारणा ही बालासरस्वती की देन है। इस लिहाज से भी दोनों स्त्रियाँ एक ही भाव के समकक्ष खड़ी नज़र आती हैं।

उस पर यह संयोग भी रहा है कि सिद्धेश्वरी देवी के पसन्दीदा कलाकारों में जो दो-तीन लोग आते थे, उसमें गायिका हीराबाई बडोदेकर, केसरबाई केरकर एवं लता मंगेशकर को छोड़कर एक मात्र नृत्यांगना बाला सरस्वती जी शामिल थीं। श्रृंगार भक्ति की भावना के नज़दीक ठहरने वाला एक महत्त्वपूर्ण तथ्य सिद्धेश्वरी जी एवं उनकी अन्य समकालीन बाईयों, गायिकाओं के बारे में काबिलेगौर यह भी रही है कि अधिकांश गायिकाओं मे अपने आरम्भिक दिनों में कथक या अन्य नृत्य सीख रखे थे। सिद्धेश्वरी देवी की शिष्या रीता गांगुली इस बारे में जोर देकर कहती हैं— ***'हुस्नाबाई, मलका जान, गौहर जान, जोहराबाई, विद्याधरी बाई, रसूलनबाई, बड़ी मोतीबाई, राजेश्वरी बाई, जद्दनबाई एवं मेरी दोनों गुरु सिद्धेश्वरी देवी एवं बेगम अख़्तर कथक नृत्य एवं अभिनय में पारंगत थीं। ये सारी महिलाएँ अपने जवानी के दिनों में जब बैठकी महफिल करती थीं, तब उस समय ठुमरी एवं दादरा गाते वक्त, आंगिक अभिनय द्वारा बन्दिशों के बोल पर बैठे हुए नृत्य करती थीं। यह राजदरबारों की महफिलों में बेहद प्रचलित था।'*** रीता गांगुली के इस तथ्य में वजन है, क्योंकि बनारस की बैठकी महफिल का स्वरूप ही वही माना जाता था, जिसमें गायिकी के साथ नृत्य एवं अभिनय की अदायगी किसी न किसी रूप में उपस्थित रही हो। प्रख्यात संगीत आलोचक ***शीला धर*** भी इस बात से इत्तेफाक रखती आयी हैं कि

सिद्धेश्वरी देवी अपने आरम्भिक दिनों में ठुमरी गाते वक्त नृत्य एवं अभिनय किया करती थीं। वे अपना संस्मरण कुरेदते हुए याद करती हैं कि जब उन्होंने बचपन में दिल्ली की एक महफिल में पहली बार सिद्धेश्वरी देवी को गाते देखा था, तब वह प्रस्तुति एक हद तक महफिल में बैठकर मुजरा करने की शक्ल में ही सम्पन्न हुई थी। शायद इसी कारण उस जमाने में ***'बोल-बनाव की ठुमरी'*** को नर्तकियों द्वारा अपनी नृत्य कला में अपनाने के कारण ***'गत भाव की ठुमरी'*** भी कहते थे।

यह तथ्य इस कारण ऐतिहासिक है कि जिस शृंगार-भक्ति के प्रति सिद्धेश्वरी जी का गायन अभिमुख रहा है, वह ऐसे ही उनकी परम्परा में अनायास नहीं आ गया, बल्कि उसका एक पहलू यह भी है कि नृत्य एवं अभिनय में पारंगत होने के साथ, जो परम्परा महफिल सजाने की प्रचलित थी, उसमें से गुजरकर सिद्धेश्वरी जी ने शृंगार और भक्ति के बीच ऐसा सन्तुलन खोजा होगा। यह अलग बात है कि बालासरस्वती जी के सारे भक्ति प्रधान शृंगार के भाव भरतनाट्यम के उन उत्कृष्ट साहित्यिक पदों से रचे जाते थे, जिसे मुत्तुस्वामी, त्यागराज, दीक्षितर एवं स्वाती तिरूनाल ने लिखा था, जबकि सिद्धेश्वरी देवी के गायन में यह पक्ष ढ़ेरों मुस्लिम वाग्गेयकारों, सन्त कवियों, संस्कार गीतों एवं गुरुजनों द्वारा रची गयी बन्दिशों की वजह से उभरता था।

(7)

बनारस के **सिया जी महाराज** और **पण्डित बड़े रामदास जी**, देवास के **रज़ब अली ख़ाँ** तथा लाहौर के **इनायत ख़ाँ** - इन चार उस्तादों के यहाँ समय-समय पर रहकर सिद्धेश्वरी बाई ने अपनी गायिकी में जो महारत हासिल की थी, उसका सबसे आलोकित करने वाला पक्ष यही रहा कि उन्हें बनारस की चारों पट की गायिकी (चौमुखी गायिकी) में सिद्धहस्तता प्राप्त हो सकी। लाहौर और बनारस के एकदम विपरीत माहौल के गुरुओं की मौजूदगी के बावजूद सिद्धेश्वरी देवी जी की गायिकी में तारतम्यता एवं पारम्परिक ढंग से संगीत के निश्छल प्रवाह को देखा जा सकता है। ऐसा शायद ही कभी हुआ होगा कि आप उनकी किसी पारम्परिक बनारसी कज़री सुनते हुए टप्पा की अदायगी के समय यह भाँप पाएँ कि यह दो गुरु घरानों से निकलकर मिली हुई चीज़ है।

वे पूरब-अंग की गायिकी में इस कदर प्रामाणिक ढंग की हैसियत अपने आरम्भिक दिनों में ही पैदा कर चुकी थीं, जिससे इस बात की गुंजाइश ही खत्म हो जाती है कि बोल-बनाव की ठुमरी और बनारस के भावप्रवण ख्याल गायन में कोई विभेद ढूँढ़ा जा सके अथवा उनके तरानों और ठुमरी के तानों के बीच कोई असम्बद्धता कायम की जा सके।

बनारस में ***चौमुखी गायन*** की अपूर्व प्रतिष्ठा रही है, जिसे **चतुर्मुखी गायिकी** या **चारों पट की गायिकी** भी कहते हैं। इसका तात्पर्य चार विशेष प्रकार की गायिकी से न होकर यह है कि चारों ओर फैलने वाला इसका अद्‌भुत संगीत एक समृद्ध विरासत एवं व्यापकता को व्यंजित करता है। चौमुखी गायन में ***छन्द-प्रबन्ध, ध्रुपद-धमार, ख्याल-तराना, टप्पा-टप ख्याल, ठुमरी-दादरा, कजरी-चैती, सादरा-होरी, झूला-बारामासा*** प्रमुख रूप से गाया जाता है। आजकल छन्द-प्रबन्ध लुप्तप्राय सा है और बनारस में इसे कोई नहीं गाता। **सिया जी महाराज** एवं **पण्डित बड़े रामदास जी** से सीखकर सिद्धेश्वरी बाई ने बनारस की चारों पट की गायिकी को बखूबी साध रखा था। उनकी अदायगी में बनारसी रंग पूरे लालित्य के साथ उल्लासपूर्ण ढंग से व्यक्त होता था। फिर चाहे वह राग मिश्र तिलक कामोद में उनकी प्रसिद्ध ठुमरी ***'साँझ भई घर आओ नन्दलाल'*** हो या ***'कौन अलबेली की नार छमाछम'*** जैसा दादरा; श्रोता अभिभूत हुए बगैर उनकी महफिल से उठकर जा नहीं सकता था। इसी तरह टप्पा में उनकी कलाकारी की रंगत

देखते हुए बनती थी, जब **राग झिंझोटी** में *'ओ मियाँ मैं तन्दे वारी जाऊँ'* गाती थीं या **राग भैरवी** में *'साँग चला दिया वे'*।

एक खास बात जो उन्हें सार्वजनिक महत्त्व का बनाती है, वह यह कि उन्होंने उन रागों की अदायगी से भी कभी परहेज नहीं किया, जो परम्परागत ढंग से ज्यादातर उनकी घरानेदारी की हद से बाहर मिलते थे। वे जानती थीं कि बनारस की पूरब-अंग गायिकी का सीधा सा मतलब ***पीलू, तिलक, पहाड़ी, गारा, झिंझोटी, खमाज*** एवं ***कौशिक ध्वनि*** होता है, बावजूद इसके अपनी ठुमरी गायिकी में इन रागों की उपस्थिति के साथ-साथ कुछ कम प्रचलित रागों को भी तरजीह दी; जो उन्हें विशेष प्रिय थे। मसलन- ***पूरिया, जोगिया, मुल्तानी*** एवं ***काफी***। कुछ यादगार ठुमरियाँ, जो संगीत के इतिहास में मील का पत्थर मानी जायेंगी, यहाँ याद करने योग्य हैं। मुख्य रूप से ***राग काफी*** में ***'जब से श्याम सिधारे'***, **राग भैरवी** में ***'अब सुधि लो मोरे राम'*** एवं ***'रस के भरे तोरे नैन सँवरिया'*** एवं **राग मिश्र तिलक कामोद** में ***'पिया तोरी तिरछी नजरिया लागे प्यारी'*** तथा **राग मिश्र बिहाग** में ***'हमसे नजरिया काहे फेरी हो बालम'*** उल्लेखनीय हैं।

(8)

बहुत कम लोग जानते होंगे कि वे कृष्ण आराधिका थीं। उनकी बेटी सविता देवी बताती हैं कि कृष्ण से सम्बन्धित पदों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर गाना और उनकी भक्ति में तन्मयता की हद तक जाकर रोने लगना सिद्धेश्वरी देवी की प्रकृति थी। उनके संगीत ख़जाने पर एक सरसरी निगाह डालने पर यह बात अनायास ही प्रकट हो जाती है कि उनकी गायिकी का धरातल कृष्ण भक्ति साहित्य के विपुल धरोहर से बनता था। फिर इस बात की भी गुंजाइश निकल आती थी कि गाते वक्त वे राजरानी मीरा बनती हैं या वैष्णवी निम्बार्की बनी ठनी अथवा मुस्लिम सन्त कवयित्री ताज़, जिसने कृष्ण के प्रेम में यह ऐलान कर दिया था -

सुनो दिलजानी मेरे दिल की कहानी तुम,
दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं।
नन्द के कुमार, कुरबान तेरी सूरत पैं,
हौं तौ मुगलानी, हिन्दुआनी ह्वै रहूँगी मैं॥

उनके गाये हुए ढेरों पदों में से कुछ कृष्ण प्रेम में पगे गीतों की फेहरिस्त यहाँ देखने लायक है। कजरी: ***'बैठी सोचें बृजबाम, सूना लागे मेरो धाम/नहिं आये घनश्याम, घेरि आई बदरी'***, झूला: ***'झपक झुकि आई बदरिया कारी/झूला झूले नन्दकिशोर'*** एवं ***'झूला धीरे से झुलाओ बनवारी/अरे साँवरिया ना'***। ठुमरी: ***'जबसे श्याम सिधारे'***, ***'काहे करत मोसे रार कन्हाई'*** एवं ***'जाओ वहीं तुम श्याम'*** भजन: ***'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'*** एवं ***'पत राखो न राखो तिहारी मरजी'*** तथा दादरा: ***'दीवाना किये श्याम क्या जादू डाला'*** एवं ***'जाए न पइयो हमारी गली आई के श्याम'*** आदि।

कृष्ण प्रेम में पगे होने के साथ-साथ उनका हृदय उद्धव के प्रेम में भी बसता था। उन्हें सूरदास का 'भ्रमर गीत' विशेष प्रिय था। अक्सर कहती थीं कि उद्धव का प्रेम जितना दिल को लुभाता है, उतना ही गोपिकाओं का प्रेम भी मन को कचोटता है। यह पता लगाना बड़ा मुश्किल है कि किसका प्रेम कितना बड़ा है और किस पराकाष्ठा पर है? सविता देवी बताती हैं कि माँ के लिए सबसे ज्यादा इस बात की अहमियत थी कि हम किसी को कितनी सच्चाई और ईमानदारी से प्रेम करते हैं। यही बात उनकी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में भी लागू थी। एक सुन्दर प्रसंग बताना यहाँ समीचीन होगा जब पचास के दशक में उनकी माँ कबीर चौरा पर रहती थीं, उस समय सविता देवी छोटी थीं। बाजार में कोई सब्जीवाला या फलवाला

आवाज़ देता हुआ अगर निकल रहा हो, तो वह उनके घर में अवश्य आता था। सिद्धेश्वरी देवी के पूछने पर कि उसके टोकरे में आलू, सब्जी या फल जितना भी बचा हुआ है; वह सब वहीं उन्हीं को दे दे। सविता जी बताती हैं— *''अक्सर सब्जीवाले उनको ठगते थे और यह कहकर कि अम्मा जी यह चार पसेरी आलू हैं या एक पसेरी आम है; मन चाहा दाम वसूलते थे। माँ को उन लोगों की नीयत पर इतनी श्रद्धा थी कि जो भी उनकी जुबान से निकलता था; वे सच मानकर दाम दे देती थीं। मोल-तोल या भाव-ताव करना तो शायद उन्होंने कभी सीखा ही न था। अक्सर उन सब्जीवालों के घर से बाहर निकल जाने के बाद जब हम सब्जियाँ रखते या फल टटोलते; तो पाते थे कि उनके कहे अनुसार वजन के आधे से भी वे कम होती थीं। फल भी गाहे-बे-गाहे कुछ सड़े निकल जाते थे। मैं इस बात पर जब लगातार नाराज़ रहने लगी तो एक दिन मैंने अपनी माँ को यह कहते हुए टोक दिया— ''माँ ये सब्जी और फलवाले आपको रोज़ आकर ठग जाते हैं। ये पाँच सेर बताते हैं और आप खुशी-खुशी उन्हें पाँच सेर मानकर रख लेती हैं, जबकि वे बमुश्किल से दो-ढाई सेर से ज्यादा नहीं निकलते। कल से आयें तो भगा दीजिएगा, वो बुरी तरह आपको मूर्ख बना रहे हैं।''*

इस पर सिद्धेश्वरी देवी का जवाब भले ही हमें आज अतार्किक और भोला-भाला लगे, मगर उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व और कला की विकास-यात्रा में ऐसी हलचल पैदा करने वाला लगता है, जो इस बात की सफलता के साथ स्थापना करने में सक्षम है कि रूपंकर कलाओं और अन्यान्य रचनात्मक अभिव्यक्तियों में यथार्थ के स्तर पर बने रहते हुए कैसे अमरत्व प्राप्त किया जाता है। सिद्धेश्वरी देवी का जवाब यही था- *''बेटी मैं इन्हें घर में आने से कभी नहीं मना करूँगी। मैंने तो नहीं ठगा इन्हें? मुझे ठग रहे हैं; बस इतनी सी ही तो बात है। फिर क्या फर्क पड़ता है? अगर तुम्हारी माँ गलत नहीं है, तो फिर नाराज़गी क्यों? कुछ पसेरी फल या सब्जी कम पाने की स्थिति से बचने के लिए मैं उनका उत्साह से यहाँ आना नहीं रोकूँगी?''*

क्या आपको यह नहीं लगता कि सिद्धेश्वरी देवी या उनके जैसे तमाम अन्य महान कलाकारों की नियति में यही लिखा हुआ है कि उन्हें व्यापक समाज, उनके कद्रदान और संगीत के रसिक इसी तरह कुछ ज्यादा बताकर, कम में ठगते रहे और वे सहृदय कलावन्त अपनी कला के उल्लास को कम न कर पाने की एवज में जान-बूझकर मूर्ख बनते रहे। क्या फर्क पड़ता है उनकी साधना को, यदि कला आपको किसी भी स्तर पर न ठगकर कुछ ज्यादा ही देने का जतन कर रही हो?

(9)

उपशास्त्रीय संगीत की तमाम विधाओं में होने वाली अदायगी और उसकी परम्परा के बारे में कुछ खास बातों पर ध्यान देना जरूरी है। मसलन इस तथ्य की ध्यानपूर्वक विवेचना करना कि उनके बुनियाद में किन परम्पराओं एवं मान्यताओं की आधारशिला रखी गयी है, जिसके सहारे हम यह ढूँढ सकें कि ध्रुपद तथा ख्याल के समकक्ष ***ठुमरी, दादरा, कजरी, चैती, होरी, झूला*** एवं ***बारामासा*** किस तरह अपना अस्तित्व गढ़ पाये होंगे। संगीत विद्वान **कुमार प्रसाद मुखर्जी** की मान्यता पर गौर करें, तो एक स्थापना का सिरा हमारे हाथ आता है, जब वे कहते हैं— ***''एक बात समझने में कोई मुश्किल नहीं होती। हिन्दुस्तानी संगीत की बुनियाद देहाती गाना या लोक संगीत है। बहुत सारी देहाती धुनों को धीरे-धीरे राग संगीत ने हज़म कर लिया है। मिसालें तो बहुत सी हैं, पर थोड़े से ही नाम गिना रहा हूँ। सिन्धु, सूरत, बिहारी, मुल्तानी, पहाड़ी, जौनपुरी, माँड आदि।''***

इससे उपशास्त्रीय गायन के सन्दर्भ में जो बात सबसे सटीक बैठती है, वह यही है कि मूलत: इन गायन विधाओं में लोकसंगीत का संस्कार बरकरार रहते हुए उन रागों की छायाएँ पड़ी हैं, जो मूलत: किसी

लोकधुन पर ही रची जा सकीं। शायद इसी कारण ढेरों पूरब अंग के दादरों, चैतियों एवं कजरियों में जौनपुरी और पहाड़ी की धुन मिलती है। इसी तरह ***पंजाब अंग की ठुमरी*** में हम आसानी से मुल्तानी की छाया पकड़ सकते हैं और राजस्थान का अधिकांश लोकसंगीत, जिसमें उनकी धार्मिक प्रथाएँ गणगौर आदि आते हैं, माँड की स्वरावली में ही निबद्ध मिलेंगी। इस मान्यता से एक और निष्कर्ष निकलता है कि अधिकांश ***ठुमरी, दादरा, कजरी, चैती*** गायन किसी एक विशिष्ट राग पर आधारित न होकर अकसर ***मिश्र रागों*** की व्यंजना देता है। हमें आसानी से कोई भी ठुमरी सुनते हुए यह बात समझ में आती है कि जिस राग का आधार लेकर वह आगे बढ़ रही है, उसमें कुछ सहोदर राग अनपी अनुगूँजें मिला रहे हैं।

बड़ी मोतीबाई, रसूलनबाई, सिद्धेश्वरी देवी, निर्मला देवी, लक्ष्मीशंकर, हीरादेवी मिश्र एवं ***गिरिजा देवी*** की अनगिनत ठुमरियाँ मिश्र रागों की बन्दिशों का आदर्श उदाहरण हैं। लोकधुनों से प्रभावित एवं ख्याल गायिकी के रागों का आसरा लेकर बने ऐसे मिश्रित रागों की बन्दिशों में प्रमुख रूप से ***मिश्र गारा, मिश्र पीलू, मिश्र काफी, मिश्र खमाज, मिश्र परज, मिश्र तिलक, कामोद, मिश्र बिहार, मिश्र पहाड़ी, मिश्र कौशिक ध्वनि, मिश्र हंसध्वनि*** एवं ***मिश्र धानी*** आदि का प्रयोग होता रहा है।

(10)

सिद्धेश्वरी देवी के कलाकार के भीतर सादगी और घरेलूपन के साथ एक मस्ती का आलम भी सदैव विद्यमान रहता था। यह गुण भी उन्हें बनारस की देन थी, जो सदैव अपने अवधूती रंग को जीता रहा है। उनके मन में जब जो आता था, वही करती थीं। यह अलग बात है कि स्वयं को उन्होंने कभी भी संगीत के एक विद्यार्थी से अधिक कुछ नहीं माना। फिर भी यह जानना दिलचस्प है कि जयपुर अतरौली घराने की शीर्ष स्तम्भ एवं दिग्गज ***उस्ताद अल्लादिया ख़ाँ*** की शिष्या ***केसरबाई केरकर*** ने बड़े प्रेम से सिद्धेश्वरी जी से उनकी प्रिय कजरी ***'घेरि घेरि आई सावन की बदरिया ना'*** सीखी थी। इसी तरह उनकी उदारता का यह आलम भी जानने लायक है कि अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में जब वे दिल्ली आकर बस गयीं, तो जब कभी भी उन्हें गुलगुला (गेहूँ का आटा, दूध, मलाई, शक्कर एवं मेवे से बना व्यंजन) खाने का मन करता था, तो पूरे मोहल्ले के लिए जब तक गुलगुला घर में न बनालें, तब तक नहीं खाती थीं। उन्हें जो भी खाने का मन करता था, भले ही वह ठेठ बनारसी ढंग का मटर का निमोना या कचौड़ी हो; पूरे मोहल्ले में बँटता था। चैती गायन उन्हें विशेष प्रिय था, साथ ही यह देखना भी बनारसी मूड को पकड़ने जैसा है कि उनकी चैती की जो बन्दिशें बेहद मशहूर थीं; मसलन ***'तरसत जियरा हमार नैहर मा'*** या *'सब बन अमवाँ बहुरना हो रामा, सैंया घर नाहीं'*; उनसे अलग उनके हृदय के करीब तो वह निर्गुण जैती ही थी, जिसके बोल सुनने लायक हैं - ***'लगि जाई ना नैहरवा में दाग, धुमिल भई चुनरी'***।

उनकी लोकप्रियता का एक दौर वह भी रहा, जब लाहौर में एक कार्यक्रम के दौरान के.एल. सहगल के प्रशंसकों ने सहगल से पहले सिद्धेश्वरी को सुनना चाहा। सहगल ने पूरे उदार मन से पहले सिद्धेश्वरी जी को गाने का न्यौता दिया और उसके बाद जो समाँ बँधा, तब उसमें अपने प्रशंसकों समेत स्वयं के.एल. सहगल भी सिद्धेश्वरी देवी के मुरीद बन बैठे। सरल वे इतनी थीं कि एक दफा इंग्लैण्ड एवं पेरिस की यात्रा के बाद सिर्फ इसलिए कभी विदेश न जाने का मन बना लिया कि विदेशों में ठीक से मन भर नहाने को नहीं मिलता था। उनकी और बेगम अख़्तर की प्रतिस्पर्धा को भी संगीत बिरादरी में काफी तूल मिलता रहा है। मगर सिद्धेश्वरी देवी एवं बेगम अख़्तर दोनों को ही जानने वाले हमेशा इस बात पर ऐतराज़ करते रहे कि उन्होंने कभी भी ऐसी कोई स्थिति नहीं पायी, जहाँ इन दोनों गायिकाओं के बीच आपसी मनमुटाव देखा गया हो। स्वयं शीला धर ने अपने संस्मरण में इस बात को याद किया है कि सिद्धेश्वरी जी ने उनसे कहा था— ***''बिटिया, अख़्तरी इतना कमाल का गाती है कि मन भर आता है। वो जितनी सुन्दर है,***

उसे अधिक उसकी ग़ज़ल गायिकी सुन्दर है। जानती हो! अख़्तरी के रहते कोई ग़ज़ल गाये, तो यह उसकी तौहीन है। इसीलिए मैंने ग़ज़ल उसके नाम कर दिया है, जिसे मैं उसके रहते कभी नहीं गाऊँगी।'' **यह मिसाल इस बात की बानगी के लिए काफी है किअपने समकालीनों के प्रति आदर व्यक्त करने में उस समय की बाईयों के चरित्र की ऊँचाई के पासंग आज भी कोई दूसरा कलाकार नज़र नहीं आता।**

जीवन के अन्तिम दिनों में उन्हें चिड़ियों को दाना देने का शौक घर कर गया था। वे रोज़ अपनी छत पर चिड़ियों को दाना देती थीं और अपने शिष्याओं से संगीत की दी हुई तालीम का रियाज़ कराती थीं। पूजा और प्रार्थना में हर दिन **राग जोगिया** में ***'शरण मोहे राखि ले रघुराई'*** का अभ्यास चलता था। सविता देवी बताती हैं, जिस दिन सिद्धेश्वरी देवी इस जहान से गयीं, न जाने कहाँ से सैकड़ों चिड़ियाँ उसी कमरे की खिड़की में आकर फड़फड़ाने लगीं, जहाँ उनका पार्थिव शरीर रखा था। ढ़ेरों चिड़ियों की मौजूदगी से खिड़की इस कदर पट गयी थी कि कुछ देर के लिए कमरे में अन्धेरा छा गया।

सन् 1976 के मार्च महीने में, जब सिद्धेश्वरी देवी दिवंगत हुईं, छाया अन्धेरा शायद आज भी ठुमरी की धीरे-धीरे अवरुद्ध हो रही धारा पर छाये संकट के प्रतीक की तरह लगता है। उस समय ढ़ेरों चिड़ियों का फड़फड़ाना कुछ और नहीं, दरअसल ठुमरी की एक दूसरी चिड़िया के एकाएक मौन हो जाने पर उन पक्षियों की मार्मिक प्रतिक्रिया थी। आज भी यही लगता है कि सिद्धेश्वरी देवी जैसी अप्रतिम फनकार के अन्दर बसने वाली एक गन्धर्व चिड़िया, उन सैकड़ों मासूम चिड़ियों के साथ दिगन्त में उड़ गयी।

पुरस्कृत कवि और आलोचक यतीन्द्र मिश्र ने बहुत कम उम्र में काफी उल्लेखनीय प्रकाशित कर लिया है। यह धारावाहिक जारी रहेगा।